# प्रशमरति

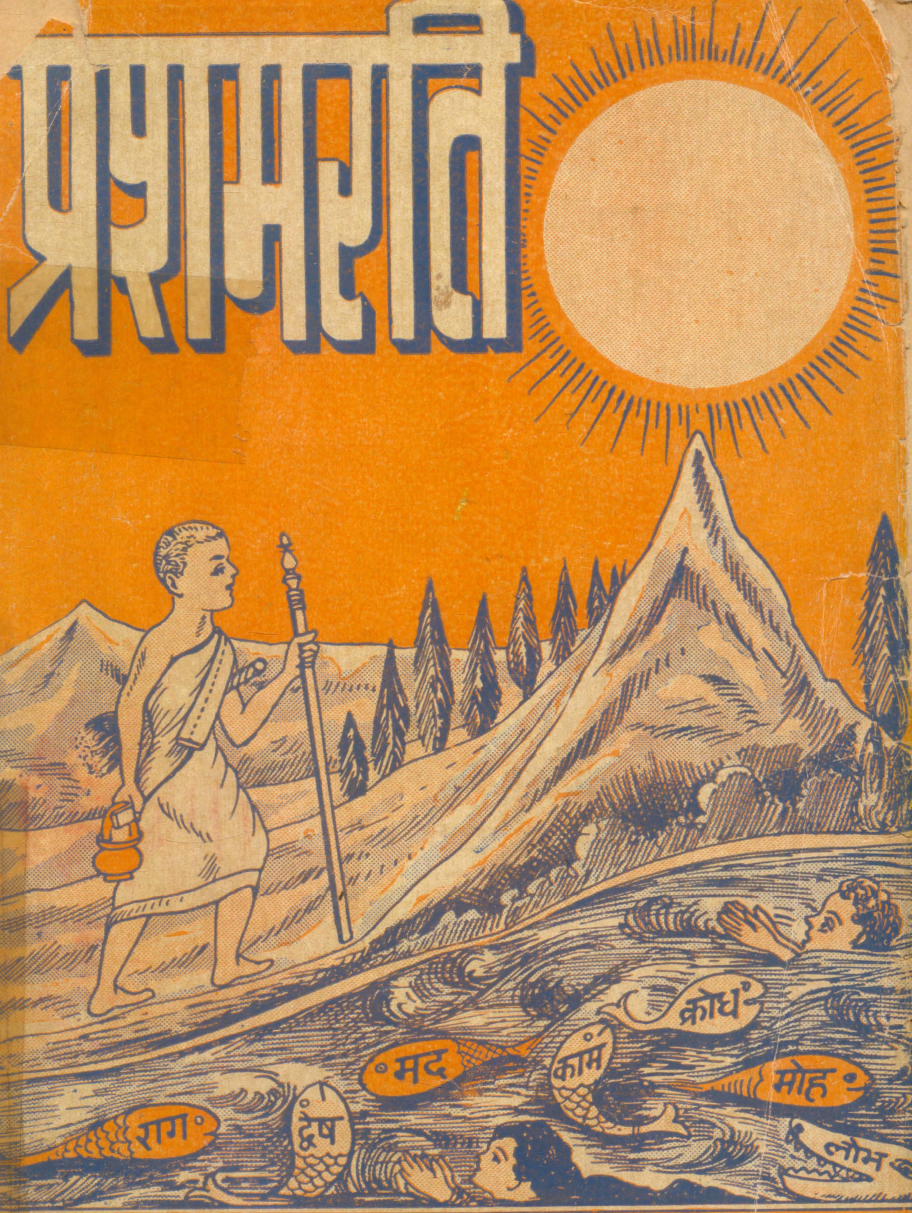


वाचकवर्य श्री उमास्वाति जी महाराज

ॐ अर्हम् नमः

परमशान्तिजनक

# प्रशमरति

मूल लेखक—

वाचकवर्य श्रीमद् उमास्वातिजी महाराज

भावानुवाद—

मुनि श्री पद्मविजयजी

संशोधक —

मुनिश्री नेमिचन्द्रजी महाराज

प्रकाशक

श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ,
दिल्ली

पुस्तक का नाम

**प्रशमरति**

❀

मूल लेखक

**वाचकवर्य श्री उमास्वातिजी**

❀

भावानुवाद

मुनिश्री पद्मविजय

❀

संशोधक

**मुनिश्री नेमिचन्द्रजी महाराज**

❀

प्रकाशक

श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ दिल्ली

❀

मुद्रक :–शान्ति प्रिंटिंग प्रेस,
शिवशंकरपुरी, मेरठ

❀

प्रथमावृत्ति

१०००

❀

मूल्य :— **दो रुपये**

**प्राप्ति–स्थान**

बनारसीदास मोहनलाल
१८४४ प्रताप मार्केट
सदर बाजार दिल्ली

सेठ अमीचन्द ताराचन्द जी
खान बिल्डिंग, नबाब टैंक रोड
मझगांव (बम्बई १०)

# प्रकाशकीय

हमारी कई वर्षों से यह इच्छा थी कि हमारा आध्यात्मिक साहित्य, जो संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में होने के कारण दुर्बोध्य होने से लोकभोग्य नहीं हो पा रहा है, सरल हिन्दीभाषा में उसका अनुवाद या विवेचन प्रकाशित हो, जिससे सर्वसाधारण जनता भी लाभ उठा सके और श्रुतज्ञान का प्रचार हो। इस वर्ष हमारी वह इच्छा पूर्ण हुई। हमारे अहोभाग्य से उत्साही युवक मुनि श्री पद्मविजयजी की सतत प्रेरणा और मार्गदर्शन मिला। उनकी प्रेरणा से हमने **'श्री निर्ग्रन्थ साहित्यप्रकाशन संघ'** की स्थापना की। और उसके माध्यम से **'प्रशमरतिप्रकरण'** का हिन्दी में भावानुवाद करके हमें मुनि श्री पद्मविजयजी ने दिया। इस संस्था के द्वारा प्रकाशित होने वाली ग्रन्थमाला का यह प्रथम ग्रन्थपुष्प है।

ऐसा प्रतीत होता है, मानो वाचकवर्य्य श्री ने जैनतत्त्वज्ञानरूपी सागर को इस लघुकाय ग्रन्थरूपी गागर में भर दिया है। वैराग्यरस से लबालब भर कर वाचकवर्य्यश्री ने साधना के हर पहलू पर प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ की निरूपण-शैली ही ऐसी है कि प्रत्येक जिज्ञासु जैनतत्त्वों को आसानी से समझ सकता है और अपने जीवन में प्रशमसुख प्राप्त करने की कला में दक्ष हो सकता है।

वैसे यह पुस्तक संस्कृत में श्लोकबद्ध है, इसलिए सामान्य व्यक्ति का इसमें डुबकी लगाना संभव नहीं। इसलिए हमने पू० मुनि श्री पद्मविजयजी म० से इसका सरल हिन्दी में भावानुवाद लिखने की प्रार्थना की। हमारी प्रार्थना पर ध्यान दे कर मुनिश्री ने अन्य आवश्यक कार्यों के होते हुए भी इस वर्ष चातुर्मास में महासमर्थ ज्ञानी वाचकवर्य्य श्री उमास्वातिजी महाराज द्वारा रचित शान्तरसोत्पादक **'प्रशमरति-प्रकरण'** का भावानुवाद लिखा है, जिसे प्रकाशित करते हुए हमें अतीव हर्ष होता है। यों तो मुनिजी ने कई पुस्तकें लिखी हैं। गतवर्ष आपने 'ज्ञानसार अष्टक' का सुन्दर अनुवाद किया है। पुस्तक के संशोधन एवं प्रकाशन-कार्य में पूज्य विद्वान् मुनि श्री नेमिचन्द्रजी म० सा० ने स्थानकवासी सम्प्रदाय के मुनि होते हुए भी उदारतापूर्वक योग-दान दिया है। तथा हरजीनिवासी पण्डितवर्य श्री गोविन्दरामजी व्यास

ने पुस्तक का प्राक्कथन लिख कर हमें अत्यन्त प्रोत्साहित किया है। हम इन महानुभावों के सर्वदा आभारी हैं। आशा है, भविष्य में भी आप इसी प्रकार संस्था को अपने उदारतापूर्ण सहयोग से समुन्नत करते रहेंगे। अन्त में, जिन जिन महानुभावों से हमें पुस्तक-प्रकाशन में आर्थिक-सहयोग मिला है, उनकी नामावली नीचे देकर हम उन्हें उनकी उदारता के लिए धन्यवाद देते हैं —

७५१) श्री संघ, लुणावा (राजस्थान)
१०१) सेठ कालूराम रिखबाजी
१०१) सेठ उमाजी नवलाजी एंड कंपनी
५१) शा० हिम्मतमलजी अमीचंदजी
५१) सेठ ओटरमलजी भूरमलजी
५१) सेठ हस्तीमलजी मनालालजी

बनारसीदास मोहनलाल
१८४४ प्रताप मार्केट
सदर बाजार दिल्ली

**निवेदक—**
**ओमप्रकाश जैन**
संचालक, श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ

॥ ऐं ॥

# प्राक्कथन

जीवन की संजीविनी चिन्मय चैतन्य की प्रशमकला है। प्रशमरति की साधना ज्ञान की उपासना है। साधना और उपासना की औचित्यता से जीवन में उत्पन्न अरक्तद्विष्टता का ज्योतिर्मय भाव आत्मरति का अनन्य कारण है। अपनी आत्मा में रमण करने वाला क्रियाशील, आत्मतोषी ज्ञानी आत्मवेत्ताओं में अग्रगण्य है। आत्मरति सिवाय का आनन्द. हर्ष और प्रमोद प्रायः नगण्य समझा जाता है। साँसारिक जीवन में आत्मनिष्ठ ज्ञानमय जीवन चलाने वाला महामानव सच्चा प्रशमरति का प्रणयवान् गुणानुरागी अनन्यसखा है।

नित्य नैसर्गिक सत्य से, तपनीय तीव्र तपस्या से, ज्ञान की गौरवशालिनी गरिमा से, दर्शन की दिव्यमयी महिमा से, सदाचार की शुभ्रमयी चन्द्रिका से शरीर में रहे असीम आनन्द के पारावार प्रमेयमय आत्मा का साधक दर्शन करता आया है। परन्तु जब राग, मोह, मात्सर्य, क्रोध, कार्पण्यता, द्वेष, दम्भ, माया और मान के महनीय पाशों का बन्धन तोड़ता तोड़ता प्रशमरति का प्रश्रय ग्रहण करता है, तब विलक्षण और विचक्षण बनता हुआ प्रवीणता से अनन्यदर्शी चरितार्थ होता है।

वैराग्य की प्रीति और चित्त की रंजनीमयी रीति, जीवन की साधना में स्वाभाविक सर्जनता और उत्तम अभ्यर्चना का योग समुपस्थित करती ही है।

वाचकवरेण्य श्रीउमास्वातिजी महाराज अतीत के अनन्य अभ्यर्चक और वर्तमान के वरिष्ठ वैराग्यप्रीतिसर्जक बन जैन वाङ्मय की विपुल वसुन्धरा पर संस्कृत ग्रन्थ के प्रथम प्रणेता, निगमकल्पतरुरूप में अवतरित हुए। इनके दीक्षागुरु "श्रीघोषनन्दि" ग्यारह अंग के ज्ञाता थे। श्रीघोष-नन्दि क्षमाश्रमण के गुरु वाचक मुख्य 'शिव श्री' थे। श्री उमास्वातिजी के विद्यागुरु "श्री मूल" नामक वाचकाचार्य थे। श्रीमुल वाचकाचार्य के गुरु

महावाचक "मुण्डपाद" थे।

श्री उमास्वाति कौभीषणी गोत्र में उत्पन्न हुए थे। स्वाति पिता के पुत्र थे, वात्सी माता के लाडले सन्तान थे। न्यग्रोधिका नाम के स्थान में आपने जन्म ग्रहण किया था। आर्य शान्ति श्रेणिक से निकली हुई "उच्चैर्नागरी" शाखा के उत्तम विद्वान् वैराग्यवान् वरेण्यवाचक निर्ग्रन्थ थे। श्वेताम्बर साहित्य में आपको "पूर्ववित्" भी कहा है।

श्री उमास्वातिजी की ग्रन्थकृतियाँ दिगम्बर और श्वेताम्बर समाज में समानरूप से समादृत हैं। कुसुमपुर में सर्जित तत्त्वार्थसूत्र की कृति पर स्वयं का स्वोपज्ञ भाष्य है और श्वेताम्बर परम्परा के समर्थ विद्वान् गंधहस्ती, सिद्धसेन गणि, समदर्शी आचार्य हरिभद्र, महामनीषी मलयगिरि, चिरन्तन मुनि, वाचकवर्य यशोविजयजी आदि व्याख्याकार हुए हैं।

दिगम्बर विद्वानों ने भी तत्वार्थ पर व्याख्याएं की हैं। "तत्त्वार्थ" की सर्वप्राचीन टीका "सर्वार्थसिद्धि" है। जिसके रचयिता दिगम्बर विद्वान् पूज्यपाद हैं, जिनका सत्ताकाल विक्रम की पाँचवीं छठी शताब्दी निर्धारित हुआ है। प्रचण्ड पण्डित भट्ट अकलंक ने आठवीं शताब्दी में "राजवार्तिक" नाम की तत्वार्थ पर व्याख्या लिखी है। इसी प्रकार दिगम्बर विद्वान् श्री विद्यानन्द ने भी 'श्लोकवार्तिक" नाम की पद्यबन्ध विस्तृत व्याख्या की है।

प्रस्तुत ग्रन्थ "श्री प्रशमरति" के कर्त्ता उमास्वातिजी हैं। इस ग्रन्थ की कारिका को निशीथ चूर्णि के कर्ता श्रीजिनदास महत्तर ने अपनी चूर्णी में उद्धृत की है। दिगम्बर-ग्रन्थ धवला टीका में भी "प्रशमरति" का उल्लेख आता है। तत्त्वार्थ टीकाकार सिद्धसेन गणि भी अपनी टीका में "प्रशमरति" का प्रमाण देते हैं—

**यतः प्रशमतौ अनेनैवोक्तम्—परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजनीयः। वाचकेन त्वेतदेव बलसंज्ञया "प्रशमरतौ" उपात्तम्,**

यह 'प्रशमरति' द्वादशाङ्गी के भावसार से रची गई है। स्वयं वाचक जी महाराज जनजीवन में वैराग्यप्रीति की स्थिरता को दृढ़ बनाने के

लिए इसकी रचना करते हैं—

'प्रशमरतिस्थैर्यार्थं वक्ष्ये जिनशासनात् किंचित्'

इस ग्रन्थ में साधु-धर्म और श्रावक-धर्म का प्रतिपादन किया गया है। रचना में भावों की विशदता है, भाषा की प्रांजलता है, सिद्धान्तों की सार-भूतता है, शब्दों की छटा का अवदात्त स्वरूप है और मानव के हितोपदेश की निर्मल विज्ञप्ति है—

कुलरूपवचनयौवनधनमित्रैश्वर्यसम्पदपि पुंसाम्।
विनय प्रशमविहीना न शोभते निर्जलेव नदी॥ ६७॥

"मनुष्यों की कुल, रूप, वचन, यौवन, प्रशमरति, धन, मित्र और ऐश्वर्य-सम्पदा भी विनय और वैराग्य से रहित हो तो निर्जल नदी की तरह शोभित नहीं होती।"

विनय और वैराग्य से समस्त मानवीय सम्पदाओं का महत्व सिद्ध करते हुए वाचकवरेण्य ने यह सिद्ध किया है कि 'आर्यजीवन का मूल उद्देश्य विनयपूर्णवैराग्यभाव की नैष्ठिकता है।

उमास्वातिजी महाराज, गुरु, माता-पिता और स्वामी का महत्व जीवन में विशेष सिद्ध कर गुरु का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर तक चरितार्थ करते हैं—

दुष्प्रतिकारौ मातापितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन्।
तत्र गुरुरिहामुत्र च सुदुष्करप्रतीकारः॥ ७१॥ प्रशमरति॥

इस मनुष्यलोक में माता-पिता, स्वामी और गुरु का प्रत्युपकार करना बड़ा कठिन है, उसमें गुरु का प्रत्युपकार तो इस लोक में भी अत्यन्त दुष्कर है और परलोक में भी अत्यन्त कठिन है।'

शास्त्रज्ञान की सारता गुरु महाराज के आधीन है, अतः गुरु के उपकारों का बदला इस लोक में और परलोक में भी नहीं चुका सकते हैं।

गुरु की आराधना, भक्ति, सेवा और विनयपरायणता शिष्य-जीवन की महिमामयी आचरणा है। शिष्यता ही गुरुता की गौरवमयी गाथा गाती है। शास्त्रज्ञान का इच्छुक यदि विनीत बनकर गुरुगम से ज्ञान की प्राप्ति करता है तो वह सदा और सर्वथा आत्महितैषी है, एवं परोपकारी है।

वाचकवर्य्य उमास्वातिजी महाराज का यह सैद्धान्तिक निर्घोष है—'कि यह मनुष्यजन्म सर्वदा निर्द्वन्द्व नहीं है।' आरोग्य, आयु, बल और लक्ष्मी ये सभी चचल हैं। धर्म में उत्साह की अटलता नहीं है। इन्हें प्राप्त कर मुझे सब प्रकार से हितकारी कार्य में उद्योग करना चाहिए।'

मानवजीवन का व्यवहार धर्म, अर्थ और काम के कमनीय कलापों में व्याप्त है। उसमें श्रुत, शील और विनय की वैभवमयी विशदता विस्तृत बन विज्ञानमयी विबुधता का रंग लाती है। परन्तु जब मान का मायामय मदजाल मानव के मनोलोक में मण्डित हो जाता है, तब इस जीवन का भव्यमय आचार भूषण न बनकर दूषण हो जाता है। इसी रहस्यमयी वार्ता का उद्घाटन करते हुए वाचक वरेण्य यह कहते हैं--

श्रुतीशीलबिनयसंदूषणस्य धर्मार्थकामविघ्नस्य।
का मानस्य कोऽवकाशं मुहूर्तमपि पण्डितो दद्यात् ॥ २७ ॥ प्रशमरति ॥

'श्रुत, शील और विनय के दूषण रूप, तथा धर्म अर्थ और काम के विघ्न-रूप मान को कौन विद्वान् एक मुहूर्त के लिये भी स्थान देगा ?'

सौजन्यता के सिन्धु, निरभिमानिता के बन्धु, विचारों के विशद सुधांशु प्रशमरति के पुनीत तपोधन और शास्त्रसिद्धान्त के स्वाभाविक स्नेही श्री उमास्वातिजी महाराज अपने हार्दिक उद्गारों की निर्ग्रन्थता नैसर्गिक सिद्ध करते हुए कहते हैं—'कि मुझे वैराग्य बहुत प्रिय है। एतदर्थ मति और समर्थता न्यून होने पर भी, शास्त्र के प्रेमवश वैराग्य उत्पन्न करने वाली रचना की है जो भव्य जीवों के लिए पगडंडी है।

तद्भक्तिबलार्पितया मयाप्यविमलाल्पया स्वमतिशक्त्या।
प्रशमेष्टतया ऽनुसृता विरागमार्गैकपदिकेयम् ॥ ७ ॥ प्रशमरति।

श्रुत-शास्त्र में मेरी भक्ति और भक्ति के प्रवाह से उत्पन्न अविमल-प्रज्ञा की प्राप्ति। इसी मेधाशक्ति द्वारा वैराग्य के प्रेमवश मैंने वैराग्य मार्ग की पगडण्डीरूप 'प्रशमरति' की यह रचना की है।

ग्रन्थकार बालक बन इस प्रशमरति का प्रमोद प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—कि 'सज्जन पुरुष दोषपूर्ण वचनों में भी सारभूत गुणों को ग्रहण करने में

निपुण होते हैं। सज्जनों का यह स्वाभाविक आचार है कि जिस वस्तु को सादर ग्रहण कर लेते हैं, वह वस्तु निःसार होने पर भी संसार में चमक उठती है। जिस प्रकार बालक की अस्पष्ट बोली भी माता-पिता को प्यारी लगती है, उसी प्रकार सज्जनों के बीच में बकवाद भी प्रसिद्धि पा जाता है।

बालस्य यथा वचनं काहलमपि शोभते पितृसकाशे।
तद्वत्सज्जनमध्ये प्रलपितमपि सिद्धिमुपयति॥ ११ ॥

वाचकजी महाराज की नैष्ठिक वाक्यविन्यासकला पाठकों को प्रमुदित कर देती है। विबुधमण्डल के सन्तान बन शास्त्र की समाप्ति करते हुए क्षमा-प्रार्थी बनते बनते पूर्ण क्षमाश्रमण की साधना का निरहंकारितापन स्पष्ट कर देते हैं—

पुत्रापराधवत्तन्मर्षयितव्यं बुधैः सर्वम्॥ ३१२॥

इस प्रकार बहुश्रुत ग्रन्थकार महोदय ने निर्ग्रन्थ-नीति की निष्णातता से ममकार-अहंकार का वर्णन कर इस ग्रन्थ को साधुजन-जीवों के लिए परमोपादेय सिद्ध कर दिया है। वैराग्य की विज्ञानता में विचरण करने वाले विवेकी जीव का यह ग्रन्थ सर्वथा साथी है।

मैंने भी भगवान् आशुतोष की असीम कृपा से इस ग्रन्थ का अध्ययन किया और सर्वप्रथम इसका अध्यापन भी बम्बई में श्री खरतरगच्छ की विदुषी साध्वी दिव्यप्रभाश्रीजी को करवाया। इस ग्रन्थ पर वि० संवत् ११८५ में द्वितीय हरिभद्र-सूरीश्वरजी महाराज ने अणहिल पाटन नगर में पूर्वाचार्यों की टीकाओं का मनन कर नयी टीका बनाई थी। वह संस्कृत टीका वर्तमान में उपलब्ध होती है। परन्तु अन्य टीकाएं अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुई हैं

इस वर्ष परमशान्त, सौजन्यशील सूरिपुंगव. करुणाविग्रह श्रीसमुद्र-सूरीश्वरजी महाराज के असीम आग्रह से लुणावा चातुर्मास में ज्ञानयज्ञ का आयोजन प्रारम्भ हुआ, मुनिवरों ने सानन्दता से स्वाध्यायस्वरों के घोषों से इसे सम्पन्न बनाया। साध्वीवर्य्याओं ने सहर्षता से समलंकृत किया और इस अल्पज्ञ विप्रबटु ने इसका संचालन किया अध्ययनशील मुनिराजों में श्री पद्मविजय जी महाराज का भी मेरे छात्र मण्डल में अद्वितीय स्थान है। ये मुनिवर परि-

श्रमी हैं और शास्त्र के जिज्ञासु भी हैं। सीधी सादी भाषा में यथाज्ञान "प्रशमरति" का भावानुवाद कर शास्त्र-सेवा का जो अपूर्व आनन्द प्राप्त किया है, वह यथार्थ है और महनीय भी। साथ-साथ ही सुयोग्य मेधावी मनस्वी मुनिपुंगव श्रीनेमिचन्द्रजी महाराज ने परिमार्जक पद स्वीकृत कर सौजन्यता का जो परिचय दिया है, वह चिरस्मरणीय रहेगा। मैंने भी मुनिराज श्री पद्मविजयजी महाराज के आग्रह से यत्किंचित् निवेदन किया है। मात्र यह आत्मप्रमेय प्रेम की पुनीत भावपुष्पाञ्जलि है।

विक्रम संवत् २०२६ (पूर्णिमा)
कार्तिक राका रविवार
दिनांक २३-११-१९६९
लुनावा (राजस्थान)

—पं० गोविन्दराम व्यास
हरजी (राजस्थान)

# समर्पण

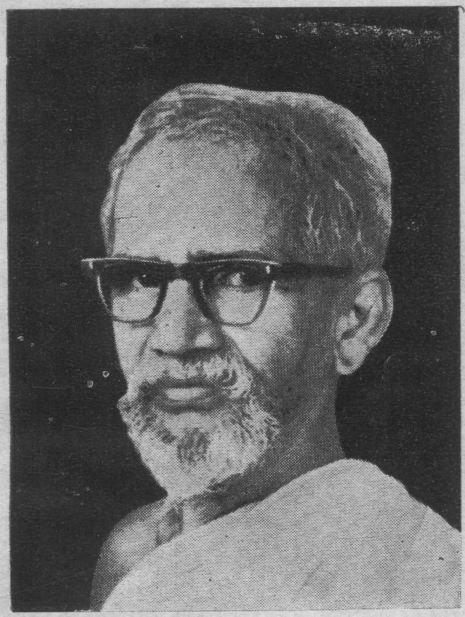

अनादिकाल से भवभ्रमण करते हुए मुझ अज्ञानीजीव को अपनी अमृतमयी वाणी से ज्ञानज्योति देकर और जैनधर्म का परमार्थ समझा कर जिन्होंने मोक्षमार्ग में जोड़ा; उन परम-उपकारी पूज्यपाद गुरुदेव गणिवर्य श्री प्रकाश-विजयजी म० सा० के चरणों में ऋण-मुक्त होने में असमर्थ होते हुए भी अल्पांशतः ऋण-मुक्त होने की भावना से इस प्रकाशन को सादर समर्पित करता हूं।

—चरणाविन्द भ्रमर

पद्मविजय

# अपनी बात

श्री जिनेश्वर देव के गहन प्रवचन-रत्नाकर का दोहन करके वैराग्यमार्ग-दक्ष, महासमर्थ ज्ञानी वाचकवर्य श्रीउमास्वातिजी महाराज ने 'प्रशमरति प्रकरण' के रूप में इस ग्रन्थ की रचना की है। वैराग्यरसपरिपूर्ण यह ग्रन्थ अतीव गहन है। मैंने अल्पमति-शक्ति होते हुए भी भक्तिवश इसके भावानुवाद करने का दुःसाहस किया है। यह मेरे पूज्य शान्तमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजयसमुद्रसूरिजी महाराज सा० तथा पूज्य सौम्यमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजयपूर्णानन्दसूरिजी महाराज सा० की असीम कृपा का परिणाम है।

यह ग्रन्थ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में समानरूप से मान्य है। धवला टीका में श्रीवीरसेनाचार्य ने इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ पर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी की टीका उपलब्ध है। उसी का यत्र-तत्र सहारा लेकर मैंने हिंदी में भावानुवाद करने का तुच्छ प्रयास किया है। संभव है, अल्पज्ञता के कारण भावानुवाद करने में कहीं त्रुटियां रह गई हों, अथवा श्री जिनेश्वर भगवान् के वचनों के विरुद्ध कुछ लिखा गया हो तो सुज्ञ पाठक क्षमा करें।

इस ग्रन्थरत्न को पढ़ कर अनेक मुमुक्षु जीव आत्मविकास कर मोक्ष के पथिक बनें, यही हार्दिक शुभकामना है।

जैन उपाश्रय लुणावा
ज्ञानपंचमी, संवत् २०२६

—मुनि पद्मविजय

## सर्वशान्तिकर पाठ

विश्वातिशायिमहिमोज्ज्वलतेजोविराजितम् ।
शान्ति शान्तिकरं स्तौमि दुरितभ्रान्तशान्तये ॥ १ ॥
षोडशविद्यादेव्योऽपि चतुःषष्ठीसुरेश्वराः ।
ग्रहादयश्चसर्वेऽपि यं सेवन्ते कृतादराः ॥ २ ॥
ॐ ह्रीं श्रीं जयविजये सुजये पराजये तुष्टिं कुरु ।
कुरु पुष्टिं कुरु शान्तिं च महाजये ॥ ३ ॥
न क्वापि व्याधयो देहे, न ज्वरा न भगन्दराः ।
कासश्वासादयो नैव बाधन्ते शान्तिसेवनात् ॥ ४ ॥
यक्षभूताः पिशाचाद्या व्यन्तरा दुष्टमुद्गलाः ।
सर्वे शाम्यन्तु श्रीशान्तिनाथसेवाकरे मयि ॥ ५ ॥

(जालंधरनिवासी पं० ऋषभदास जैन ज्योतिषी के सौजन्य से प्राप्त)

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

णमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स

नमो नमः श्री वल्लभसूरये

卐

वाचकवर्य्य श्री उमास्वातिरचित परमशान्तिजनक

# श्री प्रशमरति प्रकरण

## [मूल और भावानुवाद सहित]

यह आत्मा अनादि-अनंतकाल से इस विराट् विश्व में परिभ्रमण कर रही है और निरंतर जन्म-जरा-मरण-रोग-शोक इत्यादि दुःखों से अत्यन्त पीड़ा पाती रही है। इस पीड़ा से छुटकारा पाने तथा स्वर्ग और मोक्ष-सुख की प्राप्ति के लिए अद्वितीय कारणरूप जिन धर्मरूपी महारत्न उपार्जित करना ही भव्य प्राणी के लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय है। मगर इस उपाय को परमगुरु महाराज के अमृतमय उपदेश के बिना जानना असंभव है और उसके बाद उस उपाय में प्रवृत्ति किये बिना कोई भी वांछित कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। अतः महासमर्थ, ज्ञानी, वाचकवरेण्य आचार्यश्री उमास्वाति ने प्रशमरतिजन्य, शान्ति में रमण से होने वाली सहजसुखप्राप्ति के लिये धर्म की विशालता तथा विशदता प्रकट करने के उद्देश्य से उपदेशरूप परमशान्तरसोत्पादक "श्री प्रशमरति-प्रकरण" नामक इस ग्रन्थ की उत्साहपूर्वक रचना की। इसके मंगलाचरण का इष्टदेव की स्तुति से युक्त प्रथम श्लोक यह है :—

**नाभेयाद्याः सिद्धार्थ--राजसूनुचरमाश्चरम--देहाः।**
**पञ्च नव दश च दशविधधर्मविधिविदो जयन्ति जिनाः॥१॥**

जिसके आदि में नाभिराजा के सुपुत्र श्रीऋषभदेव हैं और अन्त में सिद्धार्थ राजा के सुपुत्र श्री वर्धमान स्वामी हैं, ऐसे

चरमशरीरी तथा क्षमा आदि (क्षमा, मार्दव आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य) दश प्रकार के श्रमण धर्म की विधि को जानने वाले पांच नव और दश अर्थात् चौबीस तीर्थंकर जिन भगवान् विजयी हों।

**जिनसिद्धाचार्योपाध्यायान् प्रणिपत्य सर्वसाधूंश्च ।**
**प्रशमरतिस्थैर्यार्थं वक्ष्ये जिनशासनात् किञ्चित् ॥२॥**

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और समस्त साधुओं को नमस्कार करके "प्रशमरति" अर्थात् वैराग्य (शान्त) रस में दृढ़ता (रमणता) के लिये जिनशासन के आधाररूप आगमों में से (लेकर) कुछ कहूंगा।

**यद्यप्यनन्तगमपर्ययार्थहेतुनयशब्दरत्नाढ्यम् ।**
**सर्वज्ञशासनपुरं प्रवेष्टुमबहुश्रुतैर्दुःखम् ॥३॥**

यद्यपि अनन्त गम, पर्याय, अर्थ, हेतु, नय और शब्दरूपी रत्नों से भरे हुये श्री सर्वज्ञशासनरूपी नगर में अबहुश्रुतों (अल्पज्ञों) का प्रवेश करना बड़ा कठिन है।

**श्रुतबुद्धिविभवपरिहीणकस्तथाप्यहमशक्तिमविचिन्त्य ।**
**द्रमक इवावयवोंछकमन्वेष्टुं तत्प्रवेशेप्सुः ॥४॥**

श्रुत (आगम) ज्ञान के अभ्यास से उत्पन्न हुई बुद्धि के वैभव से हीन होने पर भी मैं अपनी अल्पशक्ति का विचार किये बिना ही अनाज के कणों को बीनने के लिये नगरप्रवेश की इच्छा करने वाले भिखारी की तरह सर्वज्ञ शासनरूपी नगरों में प्रवचन-अवयवों को खोजने के लिये प्रवेश करना चाहता हूं। मतलब यह है कि जिनशासन को समझना बड़ा कठिन होते हुए भी मैं साहस कर रहा हूं।

**बहुभिर्जिनवचनार्णवपारगतैः कविवृषैर्महामतिभिः ।**
**पूर्वमनेकाः प्रथिताः प्रशमजनन-शास्त्रपद्धतयः ॥५॥**

जिनवचनरूपी महासागर में पारंगत महाबुद्धिशाली अनेकों कवियों के द्वारा इससे पूर्व वैराग्य (शान्त)-रस-उत्पादक अनेक शास्त्रों की रचनाएं प्रसिद्ध हैं।

**ताभ्यो विसृताः श्रुतवाक्पुलाकिकाः प्रवचनाश्रिताः काश्चित् ।**
**पारम्पर्यादुत्सेषिकाः कृपणकेन संहृत्य ॥६॥**
**तद्भक्तिबलार्पितया मयाप्यविमलाल्पया स्वमतिशक्त्या ।**
**प्रशमेष्टतयाऽनुसृता विरागमार्गैकपद्धतिरियम् ॥७॥**

उन महाज्ञानियों के बताये हुए श्रुतवचन (चौदह पूर्व) का अनुसरण करने वाली एवं प्रवचन सिद्धान्तों का आश्रय करने वाली तथा सद्गुरुपरम्परागत मिली हुई थोड़ी-सी जिनवाणी को कृपण की तरह शक्ति के अनुसार एकत्रित कर भक्ति के बल से अर्पण की हुई अनिर्मल अपनी स्वल्पबुद्धि-शक्ति अनुसार एकमात्र वैराग्यरस के मार्ग की पगडंडी रूपी इस ग्रन्थ की मैं रचना करता हूं।

**यद्यप्यवगीतार्था न वा कठोर-प्रकृष्टभावार्थाः ।**
**सद्भिस्तथापि मय्यनुकम्पैकरसैरनुग्राह्यम् ॥८॥**

यद्यपि इस ग्रन्थ में न प्रबल युक्तियां हैं और न ही अतिगम्भीर भावार्थ है, फिर भी अनुकंपाशील सज्जन पुरुष मुझ पर अनुग्रह करें।

**कोऽत्र निमित्तं वक्ष्यति निसर्गमतिसुनिपुणोऽपि वा ह्यन्यत् ।**
**दोष—मलिनेऽपि सन्तो यद्गुणसारग्रहणदक्षाः ॥९॥**

दोषों से मलिन पदार्थों में से भी सज्जनपुरुष सारभूत गुण ग्रहण करने में चतुर होते हैं। अतः सहज सुबुद्धि से निपुण कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो दूसरा कारण बताएगा ? अर्थात् गुणों को ही बताएगा।

**सद्भिः सुपरिगृहीतं यत्किञ्चिदपि प्रकाशतां याति ।**
**मलिनोऽपि यथा हरिणः प्रकाशते पूर्णचन्द्रस्थः ॥१०॥**

सज्जन पुरुषों द्वारा स्वीकार किया हुआ (सुप्रशंसित) छोटा-सा कार्य भी उसी तरह प्रकाशित (प्रसिद्ध) हो जाता है जिस तरह पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र में मलिन हिरण प्रकाशित होता है ।

**बालस्य यथा वचनं काहलमपि शोभते पितृसकाशे ।**
**तद्वत्सज्जनमध्ये प्रलपितमपि सिद्धिमुपयाति ॥११॥**

जैसे माता-पिता के सामने बालक की तुतलाती (गद्गद्) बोली बड़ी मधुर और प्यारी लगती है, वैसे ही सज्जनों के सामने यह मेरा वचन-प्रयास भी मधुर सिद्ध होगा ।

**ये तीर्थकृत्प्रणीता भावास्तदनन्तरैश्च परिकथिताः ।**
**तेषां बहुशोऽप्यनुकीर्तनं भवति पुष्टिकरमेव ॥१२॥**

तीर्थकरों ने जिन भावों का अर्थरूप में कथन किया है, उनके बाद गणधरों ने उन्हें सूत्ररूप में कहा है तथा उनके पश्चात् परंपरा से आचार्यों ने अनुयोगों के रूप में व्यवस्थित करके उन्हीं का कथन किया है । उन्हीं भावों का मेरे द्वारा बारम्बार अनुकीर्तन करना भी उन्हीं वचनों की पुष्टि ही करना है ।

**यद्वद्विषघातार्थं मन्त्रपदे न पुनरुक्तदोषोऽस्ति ।**
**तद्वद्रागविषघ्नम् पुनरुक्तमदुष्टमर्थपदम् ॥१३॥**

जैसे विष को उतारने के लिए मन्त्र का बारबार उच्चारण करना दोषकारक नहीं होता, अपितु हितकारक होता है, वैसे ही रागरूपी विष को उतारने के लिए विषघ्न अर्थपदों को पुनः पुनः कहना पुनरुक्ति-दोष से युक्त नहीं है, अपितु गुणरूप है ।

**यद्वदुपयुक्तपूर्वमपि भेषजं सेव्यतेऽर्तिनाशाय ।**
**तद्वद् रागार्त्तिहरं बहुशोऽप्युनुयोज्यमर्थपदम् ।।१४।।**

जैसे व्याधि को नाश करने के लिये पहले सेवन की हुई औषधि बार बार सेवन की जाती है और वह उस उस रोग को नष्ट करती है, वैसे ही रागरूपी रोग को नष्ट करने के लिये उपयुक्त अर्थपद का भी अनेक बार उपयोग करना योग्य है ।

**वृत्त्यर्थं कर्म यथा तदेव लोकः पुनः पुनः कुरुते ।**
**एवं विरागवार्ताहेतुरपि पुनः पुनश्चिन्त्यः ।।१५।।**

जैसे संसारी जीव अपनी आजीविका के लिये पुनः पुनः व्यापार करते हैं, वैसे ही वैराग्य में वृद्धि करने वाली बातों और कारणों का भी बार बार चिन्तन-मनन और विचार करना चाहिये ।

**दृढ़तामुपैति वैराग्यभावना येन येन भावेन ।**
**तस्मिंस्तस्मिन् कार्यः कायमनोवाग्भिरभ्यासः ।।१६।।**

कल्याण कामी मुमुक्षु का प्रधान कर्तव्य है कि जिस जिस भाव से वैराग्य भावना दृढ़ होती है, उस उस भाव में मन वचन और काया से सतत् अभ्यास करें ।

**माध्यस्थ्यं वैराग्यं, विरागता, शान्तिरूपशमः प्रशमः ।**
**दोषक्षयः कषायविजयश्च वैराग्य–पर्यायाः ।१७।।**

माध्यस्थ्य, वैराग्य, विरागता, शान्ति, उपशम, प्रशम, दोष क्षय और कषायविजय ये सब वैराग्य के पर्यायवाची शब्द हैं ।

ग्रन्थकार ने यहां वैराग्य के कई पर्यायवाचक शब्द बतलाये हैं । रागद्वेष रूपी विकार से रहित होने को माध्यस्थ्य कहते हैं । राग

और द्वेष के हट जाने को वैराग्य कहते हैं। रागरहित को विराग कहते हैं और उसके भाव को विरागता कहते हैं। समता को शान्ति कहते हैं। रागद्वेष के उत्कृष्टरूप से शान्त होने को उपशम कहते हैं। रागद्वेष के अभाव को प्रशम कहते हैं। कर्मों से जीव का दूषित अथवा कलुषित होना दोष कहलाता है। उस का सर्वथा नाश करना दोषक्षय कहलाता है। संसार का उपादान कारण कषाय है उसे जीतना कषाय-विजय है।

**इच्छा, मूर्च्छा, कामः स्नेहो, गार्ध्यं, ममत्वमभिनन्दः।**
**अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्यायवचनानि ॥१८॥**

इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गृद्धता, ममत्व, अभिनन्द (खुश होना) अभिलाषा इत्यादि अनेक राग के पर्यायवाचक शब्द हैं।

सुन्दर स्त्री के प्रति प्रीति को इच्छा कहते हैं। बाह्य वस्तु पर एक मेक तीव्र अध्यवसाय को मूर्च्छा कहते हैं। ईष्ट वस्तु की अभिलाषा को काम कहते हैं। विशिष्ट प्रेम को स्नेह कहते हैं। अप्राप्त वस्तु की इच्छा करने को गृद्धता कहते हैं। 'यह वस्तु मेरी है' 'मैं इसका मालिक हूं'ऐसे परिणाम ममत्व कहलाते हैं। ईष्ट वस्तु मिलने पर जो तृप्तिजन्य तुष्टि होती है, उसे अभिनन्द कहते हैं। इष्टवस्तु-प्राप्ति के मनोरथ को अभिलाषा कहते हैं। ये सब राग के पर्यायवाची शब्द हैं।

**ईर्ष्या, रोषो दोषो, द्वेषः परिवादमत्सरासूयाः।**
**वैरप्रचण्डनाद्या नैके द्वेषस्य पर्यायाः ॥१९॥**

इर्ष्या, रोष; दोष, द्वेष, परिवाद, मत्सर, असूया, वैर, प्रचण्डन आदि अनेक शब्द द्वेष के पर्यायवाची हैं।

दूसरे की सम्पत्ति आदि को देखकर मन में विचार आये कि इसकी सम्पत्ति नष्ट हो जाए, मेरे पास ही यह सम्पत्ति रहे, इत्यादि

भाव को ईर्ष्या कहते हैं। दूसरों का रूप, सौभाग्य और लोकप्रियता आदि देख कर जो क्रोध होता है उसे रोष कहते हैं। जो शुभ भावों को दूषित करे उसे दोष कहते हैं।

जहां प्रेम नहीं होता उसे द्वेष कहते हैं। दूसरे के दोषों को बढ़ाचढ़ा कर कहना परिवाद (निन्दा या चुगली)कहलाता है। सच्चे धर्म से अलग करे वह मत्सर (डाह) है। दूसरे के गुणों को सहन न करना, गुणों में भी दोष निकालना असूया कहलाता है। परस्पर मारने आदि के उत्पन्न हुए क्रोधभाव को वैर कहते हैं। अत्यन्त तीव्र कोपाग्नि को प्रचण्डन कहते हैं। ये और ऐसे ही द्वेष के अनेक नाम हैं।

**रागद्वेषपरिगतो मिथ्यात्वोपहतकलुषया दृष्ट्या।**
**पञ्चाश्रवमलबहुलार्त-रौद्र-तीव्राभिसंधानः ॥२०॥**

**कार्याकार्यविनिश्चयसंक्लेश—विशुद्धिलक्षणैर्मूढः।**
**आहारभय-परिग्रह-मैथुन संज्ञाकलिग्रस्तः ॥२१॥**

**क्लिष्टाष्टकर्मबन्धन-बद्धनिकाचित-गुरुर्गतिशतेषु।**
**जन्म-मरणैरजस्रं बहुविधपरिवर्तनाद् भ्रान्तः ॥२२॥**

**दुःखसहस्रनिरन्तरगुरुभाराक्रान्तकर्षितः करुणः।**
**विषयसुखानुगततृषः कषायवक्तव्यतामेति ॥२३॥**

जो रोग-द्वेष से युक्त हो, मिथ्यात्व से मलिन होने से कलुषित-बुद्धि हो, पंचाश्रव से अति मलिन होने के कारण आर्तध्यान और रौद्र ध्यानरूप तीव्र परिणाम वाला हो, जो कार्य और अकार्य का निश्चय करने में संक्लेश से विशुद्ध लक्षणों से मूढ़ हो,आहार,भय,मैथुन और परिग्रहसंज्ञारूपी कलेशों से ग्रस्त हो, आठ प्रकार के क्लिष्ट

कर्मों के निकाचित बंधन से भारी हुई आत्मा के सैंकड़ों गतियों में निरंतर जन्म-मरण के दुःख से बहुत प्रकार के परिवर्तन होने से जो भ्रान्त बना हुआ हो, निरंतर हजारों दुःखों से अत्यंत भाराक्रान्त (भारी)होने के कारण दुर्बल हो,करुणा-जनक(दयनीय)स्थिति वाला हो और विषय-सुख का प्यासा हो उस दीन-दुःखी जीव को 'कषायी' कहना चाहिये ।

ग्रन्थकार ने चार श्लोक में कषायी आत्मा की व्याख्या की है। इसमें कष्+आय+ई, ये तीन अक्षर हैं। इसका भावार्थ यह है कि जो आत्मा संसार की ओर जाने वाली व जन्म-मरण की वृद्धि करने वाली हो,ऐसी आत्मा को कषायी कहते हैं। एक ही आत्मा को अलग अलग रूप में बताई है:—जिसकी आत्मा समुद्ररूपी राग और अग्नि रूपी द्वेष के आधीन हो; मिथ्यात्व से जिसकी बुद्धि मलिन हो; अपने मन में (१) जैसा शरीर है वैसा ही आत्मा है, (२) आत्मा है परन्तु नित्य नहीं है, (३) आत्मा नित्य भी है परन्तु कर्मों का कर्ता नहीं है, (४) आत्मा है, वह नित्य है, कर्मों का कर्ता भी है, परन्तु भोक्ता नहीं है, (५) आत्मा को मोक्ष नहीं होता, (६) मोक्ष-प्राप्ति का कोई उपाय भी नहीं है। इस प्रकार के विचार से जिसकी बुद्धि कलुषित है; हिंसा-आश्रव, असत्य-आश्रव, चोरी-आश्रव, मैथुन-आश्रव और परिग्रह-आश्रव इन पांचों आश्रवों (पापों) का जो सेवन करता है और आश्रवों से कर्म-मल राशि इकट्ठी होती है, इससे वह आर्त-ध्यान, रौद्र-ध्यान के तीव्र परिणाम वाला होता है। 'मुझे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये ?' इस तरह कार्याकार्य में जिसकी बुद्धि किसी निर्णय पर नहीं पहुंचती। मूढ़ बुद्धि के कारण संध्या, प्रतिक्रमण पूजा-पाठ व ध्यान के विशुद्ध लक्षणों को जो नहीं समझता। आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा रूपी कलह में फंसा हुआ हो; ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय,

वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठ प्रकार के क्लिष्ट कर्मों के निकाचित बन्धन से भारी हुई आत्मा अनेकों गतियों में जन्म-मरण के चक्कर काटने वाली है। निरन्तर हजारों दुःखों के सहते सहते अत्यधिक भार से जो दुर्बल, करुणाजनक स्थिति वाला और विषयसुख का अभिलाषी हो, तथा संसार-परिभ्रमण करने से दीन-दुःखी जीव हो, उसे कषायी (कषाय वाला) अर्थात् क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी कहा जाता है।

**स क्रोधमानमायालोभैरतिदुर्जयैः परामृष्टः ।**
**प्राप्नोति याननर्थान् कस्तानुद्देष्टुमपि शक्तः ॥२४॥**

अति दुर्जय क्रोध, मान, माया और लोभ के आधीन जीव जिन जिन अनर्थों (अनिष्टों) को पाता है, उसे कहने में कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं।

**क्रोधात् प्रीतिविनाशं मानाद् विनयोपघातमाप्नोति ।**
**शाठ्यात्प्रत्ययहानिः सर्वगुणविनाशनं लोभात् ॥२५॥**

क्रोध से प्रीति का नाश होता है, मान से विनय का उपघात होता है, माया से विश्वास का लोप होता है, और लोभ से सर्व गुणों का नाश होता है। इसी श्लोक का भाव श्री दशवैकालिक सूत्र में उपलब्ध होता है :—

**कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयणासणो ।**
**माया मित्ताणि नासेइ लोभो सव्वविणासणो ॥**

अध्ययन ८ गाथा ४०

**क्रोधः परितापकरः सर्वस्योद्वेगकारकः क्रोधः ।**
**वैरानुषङ्गजनकः क्रोधः क्रोधः सुगतिहन्ता ॥२६॥**

क्रोध सब के शरीर और मन को पीड़ा देने वाला है, क्रोध सबको भयभीत करने वाला है। क्रोध वैरभाव को उत्पन्न करने वाला और क्रोध ही सद्गति का नाश करने वाला है।

योगशास्त्र में इसी भाव का अनुसरण किया गया है:—

**तत्रोपतापकः क्रोधः क्रोधो वैरस्य कारणं।**

**दुर्गतेर्वर्तनी क्रोधः क्रोधः शमसुखार्गला ॥**

चतुर्थ प्रकाश ६ श्लोक

**श्रुत-शील-विनय-संदूषणस्य धर्मार्थकामविघ्नस्य।**

**मानस्य कोऽवकाशं मुहूर्त्तमपि पण्डितो दद्यात् ॥२७॥**

जो श्रुत (शास्त्र) ज्ञान, शील (आचार) और विनय को दूषित करने वाला है, तथा धर्म, अर्थ और काम में विघ्नकारी है, ऐसे मान को कौन विद्वान पुरुष एक मुहूर्तमात्र भी अवकाश देगा? इसी तरह योगशास्त्र में भी उल्लेख मिलता है:—

**विनय-श्रुतशीलानां त्रिवर्गस्य च घातकः।**

**विवेकलोचनं लुम्पन् मानोऽधःकरणो नृणाम् ॥**

चतुर्थ प्रकाश १२ श्लोक

**मायाशीलपुरुषो यद्यपि न करोति किंचिदपराधम्।**

**सर्प इवाविश्वास्यो भवति तथाप्यात्मदोषहतः ॥२८॥**

यद्यपि मायाशील (कपट करने वाला) पुरुष कोई भी अपराध नहीं करता। फिर भी अपने दोष से पीड़ित होते हुये सर्प की तरह वह भी किसी का विश्वासपात्र नहीं होता। सांप का दांत तोड़ देने पर भी लोग उससे दूर ही रहते हैं।

**सर्व-विनाशाश्रयिणः सर्व–व्यसनंकराजमार्गस्य ।**
**लोभस्य को मुखगतः क्षणमपि दुःखान्तरमुपेयात् ॥२९॥**

लोभ समस्त विनाशों का आधार है और सर्व दोषों-व्यसनों के लिये राजमार्ग (सड़क) बनाने वाला भी लोभ है। अतः लोभ के वशीभूत होकर कौन व्यक्ति एक क्षण भी सुख प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं।

जैसे सर्व पापों का मूल हिंसा है, कर्मों का मूल मिथ्यात्व है, रोग का मूल धातुक्षय है, वैसे ही समस्त अपराधों का मूल लोभ है। द्रव्यलोभ से जीव अपने पूर्व निधान पर उसी तरह एकछत्र साम्राज्य रखता है, जिस तरह वृक्ष पूर्व निधान पाकर उसे अपनी जड़ों से चिपटा (छिपा) कर रखता है। मूर्च्छा के कारण पचेन्द्रियादि जीव सर्प, चूहा भूत, प्रेत, पिशाच, और यक्षादि भी निधान (गड़े हुये धन) की भूमि पर लोभवश घूमा करते हैं, बड़े बड़े राजा भी लोभ के कारण आपस में लड़ते हैं। क्रोधादि पर विजय प्राप्त कर उपशान्तमोह गुणस्थान तक पहुंच जाने वाला मुनि भी इसी लोभ के अंशमात्र से पतित हो जाता है। अतः लोभी मनुष्य को दुःख के सिवाय और क्या मिल सकता है ?

**एवं क्रोधो,मानो, माया, लोभश्च दुःखहेतुत्वात् ।**
**सत्वानां भवसंसारदुर्गमार्ग–प्रणेतारः ॥३०॥**

इस तरह क्रोध, मान, माया और लोभ दुःख के हेतु होने से संसारी जीवों के लिये जन्म-मरण के चक्ररूप संसार के विषम मार्ग की ओर ले जाने वाले हैं।

**ममकाराहङ्कारावेषां मूलं पदद्वयं भवति ।**
**रागद्वेषावित्यपि तस्यैवान्यस्तु पर्यायः ॥३१॥**

'यह मेरा है' इस प्रकार के ममत्व को ममकार कहते हैं, और गर्व को अहंकार कहते हैं। ममकार और अहंकार ये दो पद ही कषायों के मूल कारण हैं। राग-द्वेष तो इन्हीं के पर्यायवाची शब्द हैं।

**माया-लोभकषायश्चेत्येतद् रागसंज्ञितं द्वन्द्वम्।**
**क्रोधो मानश्च पुनर्द्वेष इति समासनिर्दिष्टः ॥३२॥**

माया और लोभ ये दोनों कषाय जुड़ कर राग (ममकार)के नाम से पुकारे जाते हैं और क्रोध तथा मान ये दोनों मिल कर संक्षेप में द्वेष (अहंकार) कहलाते हैं।

**मिथ्यादृष्ट्यविरमण-प्रमाद-योगास्तयोर्बलं दृष्टम्।**
**तदुपगृहीतावष्टविधकर्मबन्धस्य हेतू तौ ॥३३॥**

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और मन, वचन, काया का योग ये राग और द्वेष इन दोनों की सेना है। उसके सहयोग से ये दोनों आठ प्रकार के कर्म-बन्धन के हेतु बनते हैं।

**सज्ज्ञानदर्शनावरणवेद्यमोहायुषां तथा नाम्नः।**
**गोत्रान्तराययोश्चेति कर्मबन्धोऽष्टधा मौलः ॥३४॥**

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अंतराय, इस तरह से मूल कर्मबन्ध आठ प्रकार का है।

१—आंखों पर बन्धी हुई पट्टी के समान "ज्ञानावरणीय" कर्म का स्वभाव आत्मा के अनन्त ज्ञान को रोकता है।

२—दर्शनावरणीय कर्म द्वारपाल के समान स्वभाव वाला है, जिस प्रकार राजा के दर्शन चाहने वाले को द्वारपाल रोकता है, उसी तरह आत्मा के दर्शन गुण को दर्शनावरणीय कर्म रोक देता है।

३--वेदनीय कर्म का स्वभाव शहद लिपटी हुई तलवार की धार के समान है, वेदनीय कर्म आत्मा के अव्याबाध गुण को रोक देता है। तलवार की धार में लगे हुए शहद को चाटने के समान साता वेदनीय कर्म का विपाक (फल) है, और धारा से जीभ के कटने पर अनुभव में आती हुई पीड़ा के समान असाता वेदनीय कर्मविपाक है।

४—मोहनीय कर्म का स्वभाव मद्य (शराब) के नशे के समान है। यह आत्मा के सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र गुण को दबा देता है। जैसे शराब के नशे में चूर व्यक्ति अपना हिताहित नहीं सोच-समझ सकता, वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा को धर्म-अधर्म, हिताहित का ज्ञान नहीं होता।

५—आयुकर्म का स्वभाव कारागृह के समान है। यह कर्म आत्मा के "अविनाशित्व" धर्म को रोक देता हैं, जैसे जेल में पड़ा हुआ मनुष्य उससे निकलना चाहता है, परन्तु सजा पूर्ण हुए बिना निकल नहीं सकता, उसी तरह नरकादि योनियों में पड़ा हुआ जीव आयुष्य पूर्ण किये बिना उन योनियों से छूट नहीं सकता।

६--नामकर्म का स्वभाव चित्रकार के जैसा है। यह कर्म आत्मा के अरूपित्वधर्म को रोकता है जैसे चित्रकार अच्छे-बुरे अनेक प्रकार के चित्र बनाता है, उसी तरह नामकर्म आत्मा को अच्छी बुरी आदि गतियों में नाना प्रकार के देव, मनुष्य, नारक और तिर्यञ्च बना देता है।

७—गोत्रकर्म कुम्हार जैसा है। यह कर्म आत्मा के अगुरु-लघु गुण को रोकता है। कुम्हार घी और मद्य रखने के घड़े बनाता है, उसमें घी का घड़ा अच्छा और मद्य का घड़ा खराब समझा जाता है, इसी तरह गोत्रकर्म के उदय से जीव उच्च कुल अथवा नीच कुल में जन्म लेकर अच्छा या बुरा कहलाता है।

८—अन्तराय कर्म का स्वभाव भण्डारी के सरीखा है। यह कर्म जीव के वीर्य गुण को तथा दान आदि लब्धियों को रोक देता है। जैसे मालिक इच्छा होते हुए भी दुष्ट भण्डारी के कारण दान आदि नहीं कर सकता। इसी प्रकार अन्तराय कर्म के उदय से जीव दान आदि नहीं कर सकता, न अपनी शक्ति का विकास कर सकता है।

**पञ्च नव द्वयष्टाविंशतिकश्चतुः षट्कसप्त-गुणभेदः।**

**द्विपञ्चभेद इति सप्तनवतिभेदास्तथोत्तरतः ॥३५॥**

इन आठ मूल कर्मबन्ध के पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पांच भेद अनुक्रम से होते हैं। उत्तर कर्मबन्ध के कुल सत्तानवें भेद होते हैं।

इस प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर-प्रकृतियां पांच हैं, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनपर्यायज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण।

दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियां नौ हैं—चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि।

वेदनीय की उत्तर प्रकृतियां दो हैं—सातावेदनीय और असाता वेदनीय।

मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियां अट्ठाईस हैं—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी, क्रोध, मान, माया और लोभ, अप्रत्याख्यानी क्रोध-मान-माया और लोभ, प्रत्याख्यानी क्रोध, मान माया और लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ तथा हास्य रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसक वेद।

आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियां चार हैं—नारकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु।

नामकर्म की उत्तर प्रकृतियां बयालीस होती हैं:—गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग, निर्याण, बन्धन, संस्थान, संघात, संहनन स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, आतप उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति, प्रत्येकशरीर, साधारण शरीर, त्रस, स्थावर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर दुःस्वर सूक्ष्म, बादर पर्याप्त, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, आदेय, अनादेय, यश अपयश, और तीर्थंकर नामकर्म।

गोत्र कर्म की उत्तर प्रकृतियां दो हैं:—उच्च गोत्र और नीच गोत्र,

अन्तराय कर्म की उत्तर प्रकृतियां पांच हैं:—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, और वीर्यान्तराय।

इन आठों कर्मों की उत्तर प्रकृतियां ९७ अथवा १२२ और १५८ भी होती हैं।

**प्रकृतिरियमनेकविधा स्थित्यनुभागप्रदेशतस्तस्याः।**
**तीव्रो मन्दो मध्य इति भवति बन्धोदय-विशेषः ॥३६॥**

प्रकृति, स्थिति, अनुबन्ध और प्रदेश की अपेक्षा से इसके अनेक भेद हैं तथा बन्ध और उदय के समय तीव्र, मंद और मध्यम के अनुसार विशेष भेद होता है।

**प्रकृतिबन्ध**—कर्म का स्वभाव "प्रकृतिबन्ध" कहलाता है। जिस तरह वात, पित्त और कफ को हरण करने वाले पदार्थों से बने हुये लड्डुओं का स्वभाव वात-पित्त आदि का दूर करना है, उसी तरह कर्म स्वभाव से किसी जीव के ज्ञान का आवरण करता है किसी जीव के दर्शन का आवरण और किसी के चरित्र का आवरण करता है। इसी स्वभाव को प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

**स्थितिबंध** —कर्म के काल का निश्चय "स्थितिबन्ध" कहलाता है। जैसे बने हुए विविध लड्डुओं में कोई महीने, कोई ६ महीने, कोई वर्ष तक एक ही (ठीक) हालत में रहता है। उसी तरह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय इन चारों कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति अर्थात् अधिक से अधिक स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। नामकर्म और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। जघन्य स्थिति अर्थात् कम से कम स्थिति बारह मुहूर्त से है। नामकर्म और गोत्रकर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है। शेष कर्मों ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, आयु और अन्तराय की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। इसी को स्थितिबन्ध कहते हैं।

**अनुभागबन्ध** —कर्म के रस को "अनुभागबन्ध" कहते हैं। जैसे कोई लड्डू मीठा होता है, कोई कड़वा और कोई तीखा होता है; उसी तरह शुभ और अशुभ कर्म का जब बन्ध होता है, तब किसी कर्म-दल का रस मधुर, किसी का कड़वा और किसी का तीक्ष्ण रस होता है। इस तरह विविध प्रकार के रस को रसबन्ध कहते हैं। अनुभाग और रस दोनों का एक ही मतलब है।

**प्रदेशबन्ध** —कर्म-दल के संचय को "प्रदेशबन्ध" कहते हैं। जैसे कोई लड्डू पाव भर का, और कोई आधा सेर का होता है उसी तरह कोई कर्मदल परिमाण (जत्थे) में कम होता है, और कोई परिमाण में (मात्रा में) अधिक होता है। ऐसे अनेक परिमाण होते हैं। कर्मों का इन परिमाणों में बंधना प्रदेशबन्ध कहलाता है।

इन कर्मदलों के बन्ध समय यदि तीव्र, मन्द और मध्यम परिणाम होंगे तो उदय के समय भी वे तीव्र, मन्द और मध्यम होंगे।

**तत्र प्रदेशबन्धो योगात्तदनुभवनं कषायवशात् ।**
**स्थितिपाकविशेषस्तस्य, भवति लेश्याविशेषेण ॥३७॥**

इन चारों प्रकार के कर्मबन्धों में प्रदेशबन्ध मन, वचन और काया के योग से होता है, अनुभागबन्ध (रसबन्ध) क्रोध, मान, माया और लोभादि कषायों से होता है और लेश्या के तारतम्य के अनुसार स्थिति व विपाक (फलभोग) में विशेषता (कमोबेशी) होती है।

**ताः कृष्णनील–कापोत–तेजसी–पद्म–शुक्लनामानः ।**
**श्लेषइव वर्णबन्धस्य कर्मबन्धस्थितिविधात्र्यः ॥३८॥**

वे लेश्यायें कृष्ण, नील, कपोत, तेजस, पद्म और शुक्ल नाम से ६ प्रकार की हैं। जैसे चित्रकार्य में सरेस रंग को पक्का और स्थायी बना देता है; वैसे ही लेश्याएं भी कर्मबन्ध की स्थिति को दृढ़ कर देती हैं।

जो पुरुष महान् रौद्रध्यानी हो, सदा क्रोधी हो, ईर्ष्यालु हो, सबसे द्वेष करने वाला हो, धर्म से रहित हो, निर्दयी हो और निरन्तर वैर रखने वाला हो, उसे कृष्णलेश्या वाला समझना चाहिये।

जो जीव आलसी, मंदबुद्धि, स्त्री में लुब्ध, दूसरों को पीड़ा देने वाला, डरपोक और निरन्तर अभिमानी हो, उसे नीललेश्या वाला जानना चाहिये।

निरन्तर शोकमग्न रहने वाला, सदा क्रोधी, दूसरों की निन्दा और अपनी प्रशंसा में रत रहने वाला, युद्ध में भयंकर और खिन्न मन वाला पुरुष कापोतलेश्या वाला होता है।

जो विद्वान, करुणायुक्त, कार्याकार्य का विचार करने वाला और

हानि और लाभ दोनों में सदैव समभावी (आनन्दी) रहता हो, वह व्यक्ति पीतलेश्या का अधिकारी होता है।

क्षमायुक्त; निरन्तर त्यागवृत्ति वाला, देवपूजा में तत्पर रहने वाला, संयम को धारण करने वाला, पवित्र और सदा आनन्दमग्न पुरुष पद्मलेश्या वाला होता है।

रागद्वेष से मुक्त, शोक और निन्दा से रहित तथा परमात्म-भाव को प्राप्त पुरुष शुक्ललेश्या वाला कहलाता है।

इन छहों लेश्याओं में से प्रथम तीन लेश्याएं अशुभ हैं; और शेष तीन शुभ हैं। आत्मा के परिणामविशेष को लेश्या कहते हैं। इस को विस्तृतरूप से समझने के लिए जामुन खाने के अभिलाषी ६ पुरुषों का दृष्टान्त दिया जाता है :—

किसी जंगल में भूख से व्याकुल ६ पुरुष घूम रहे थे। उन्होंने एक जगह पक्का और रसवाला एक जामुन का पेड़ देखा। उसे देख कर सब हर्षित होकर कहने लगे, हमें कितना सुन्दर अवसर मिला है। हमारे भाग्य से हमें यहां यह पेड़ दिखलाई दिया है। इसलिये अब इसके फल खाकर अपनी भूख मिटानी चाहिये। उनमें से एक क्लिष्ट परिणाम वाला था, उसने कहा कि "इस पेड़ पर चढ़ना तो मुश्किल है, जान का खतरा है। अतः तीखे कुल्हाड़े से इसे जड़ से काट कर नीचे गिरा देना चाहिये। और फिर निश्चिंत होकर इसके सारे फल खाने चाहिये। ऐसे दुर्भावों (दुष्परिणामों) वाला पुरुष कृष्णलेश्या वाला था। फिर दूसरा उससे कुछ कोमल हृदय वाला था, वह कहने लगा- 'इस तरह बड़े पेड़ को काटने से हमें क्या लाभ होगा ? हमें फल खाने हैं तो सिर्फ इसकी एक बड़ी शाखा (डाली) काट कर नीचे गिरा देनी चाहिये और उसमें लगे फलों को खा कर तृप्त हो जाना चाहिये' ऐसे कहने (भाव) वाला पुरुष नीललेश्या वाला जानना चाहिये। तभी तीसरे ने कहा -

'इतनी बड़ी शाखा के तोड़ने से क्या लाभ ? सिर्फ उसकी एक प्रशाखा (टहनी) को ही काट डालना चाहिये।' ऐसे परिणाम (भाव) प्रकट करने वाला पुरुष कापोतलेश्या वाला था। यह सुन कर चौथे ने कहा-"उस छोटी प्रशाखा को भी काटने से क्या लाभ ? सिर्फ उसके गुच्छे तोड़ लेने से अपना काम हो सकता है"। ऐसे परिणाम वाला तेजोलेश्या वाला था। तभी पांचवे ने कहा-! 'अजी गुच्छे तोड़ने से क्या फायदा ? सिर्फ पके हुए और खाने योग्य फलों को ही हमें अपनी जरूरत के अनुसार तोड़ लेना चाहिये' ऐसा पुरुष पद्मलेश्या वाला था। अब छठे से न रहा गया। उसने कहा-'फल तोड़ने की भी क्या आवश्यकता है ? जितने फलों की हमें आवश्यकता है, उतने पके फल तो इस वृक्ष के नीचे गिरे हुए मिल जायेंगे, तो फिर उन्हीं से भूख मिटाकर प्राणों का निर्वाह करना अच्छा है। ऐसा पुरुष शुक्ललेश्या के परिणाम वाला था।

इस प्रकार विभिन्न लेश्यावाला प्राणी भिन्न-भिन्न गति में जाता है। कृष्णलेश्या वाला नरकगति में जाता है। नील लेश्या वाला स्थावर (पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय) में जन्म लेता है। कापोतलेश्या वाला तिर्यंच गति में जाता है। पीतलेश्या वाला मनुष्यगति पाता है। पद्म लेश्या वाला देवलोक में जाता है और शुक्ललेश्या वाला जीव शाश्वत स्थान (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

जिस तरह दीवार आदि पर चित्रों को स्थायी बनाने के लिये रंगों में सरेस डाल देते हैं, सरेस से रंग पक्का और स्थायी हो जाता है, इसी तरह ये लेश्यायें कर्मबन्ध की स्थिति को मजबूत बना देती हैं।

**कर्मोदयाद् भवगतिर्भवगतिमूला शरीरनिर्वृत्तिः ।**
**देहादिन्द्रियविषया विषयनिमित्ते च सुखदुःखे ॥३९॥**

कर्मों के उदय से जीव को जन्म-मरणरूप गति मिलती है। जैसी गति (योनि) मिलती है, वैसे ही शरीर का निर्माण होता है। शरीर के अनुसार ही उसको इन्द्रियां व विषय मिलते हैं। इन्द्रियों के विषय के निमित्त (कारण) से जीव को सुख और दुःख मिलते हैं।

**दुःखद्विट् सुखलिप्सुर्मोहान्धत्वाददृष्टगुणदोषः ।**
**यां यां करोति चेष्टां तया तया दुःखमादत्ते ॥४०॥**

दुःख पर द्वेष करने वाला और सुख का लोलुप जीव मोह में अन्धा होकर गुण-दोषों को नहीं देखता यानी उनके परिणामों को नहीं सोचता। इस प्रकार मोहान्ध बन कर वह जो-जो चेष्टा करता है उस-उससे वह दुःख ही दुःख पाता है।

**कलरिभितमधुर-गान्धर्वतूर्ययोषिद्विभूषणरवाद्यैः ।**
**श्रोत्राबबद्धहृदयो हरिण इव विनाशमुपयाति ॥४१॥**

गांधर्व की वीणा के शब्द, मनोहर और मधुर शब्द तथा स्त्रियों के आभूषणों के शब्द इत्यादि से श्रोत्रेंद्रिय के विषय में दत्तचित्त (आसक्त) जीव हरिण की तरह अपने विनाश को न्यौता देता है।

**गतिविभ्रमेङ्गितकार-हास्य-लीला-कटाक्षविक्षिप्तः ।**
**रूपवेशितचक्षूः शलभ इव विपद्यते विवशः ॥४२॥**

ललनाओं की गति, विलास, इंगिताकार, मदभरी हंसी और कटाक्ष में पागल हुआ तथा स्त्री के विचित्ररूप में आसक्त हुआ जीव पतंगे की तरह अपने प्राणों को खो बैठता है।

**स्नानाङ्गरागवर्तिकवर्णकधूपाद्यवासपटवासैः ।**

**गन्धभ्रमितमनस्को मधुकर इव नाशमुपयाति ॥४३॥**

स्नान, चन्दन, केशर आदि विलेपन, पाउडर (चन्दनादि का चूर्ण) धूपबत्ती, सुगन्धित वर्णक(क्रीम आदि पाउडर, स्नो आदि लेप) धूप, की सुगन्ध और पटवास (गन्धवास) की सुगन्ध में मुग्ध बना हुआ जीव भौंरे की तरह नष्ट हो जाता है।

**मिष्टान्नपानमांसोदनादिमधुररसविषयगृद्धात्मा ।**

**गलयन्त्रपाशवद्धो मीन इव विनाशमुपयाति ॥४४॥**

मिठाईयों, मधुर भोजनों, स्वादिष्ट पेय, मांस, चावल, आदि मधुररस (पदार्थों के स्वाद) विषय में आसक्त बना हुआ जीव गल-यन्त्र, में फंसी हुई (मछली या जाल में फंसे शेर, व्याघ्र, चूहे आदि) की तरह अपना विनाश कर लेता है।

**शयनासन-संवाहनसुरतस्नानानुलेपनासक्तः ।**

**स्पर्शव्याकुलितमतिर्गजेन्द्र इव वध्यते मूढः ॥४५॥**

सुसज्जित शय्या, कोमल आसन, अंगमर्दन, रतिक्रीडा, स्नान और अनुलेपन में आसक्त बना हुआ मूढात्मा स्पर्शेन्द्रिय के विषय में व्याकुल बने हुए गजेन्द्र(हाथी)की तरह बन्धन में बन्ध जाता है।

**एवमनेके दोषाः प्रणष्टशिष्टेष्ट-दृष्टिचेष्टानाम् ।**

**दुर्नियमितेन्द्रियाणां भवन्ति बाधाकरा बहुशः ॥४६॥**

इस तरह जिसकी शिष्टजनों की तरह इष्ट दृष्टि और चेष्टा नष्ट हो गई है, ऐसे इन्द्रियां वश में नहीं करने वाले जीव को अनेक दोष कई तरह से पीड़ा पहुंचाते रहते हैं।

इन्द्रिय-विषयों के पराधीन हुआ कौन-सा प्राणी विडंबना नहीं पाता ? शास्त्र और उसके रहस्यों का वेत्ता भी इन्द्रियाधीन बनने पर बालक की तरह चेष्टा करता है। इन्द्रियों के वशीभूत देव, दानव, मनुष्य और तपस्वी भी निंदनीय कर्म करते हैं।

**एकैकविषयसंगाद् रागद्वेषातुरा विनष्टास्ते ।**

**किं पुनरनियतात्मा जीवः पञ्चेन्द्रियवशार्तः ॥४७॥**

एक एक इन्द्रिय के विषय में आसक्ति से राग और द्वेष के रोग से ग्रस्त जीव विनष्ट होते देखे गये हैं, तो पांचों इन्द्रियों के वश में पड़े हुए अस्थिर आत्मा का तो कहना ही क्या ?

हिरण मधुर आवाज में आसक्त होता है, पतंगा सुन्दर रूप में आसक्त होता है, भ्रमर सुगन्ध में आसक्त होता है, मछली रस में आसक्त होती है, और हाथी स्पर्श में आसक्त होता है। पांचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति के कारण राग और द्वेष पैदा होते हैं। ये उपर्युक्त जीव तो एक-एक इन्द्रिय-विषय के आधीन होकर दुःखी होते हैं, मृत्यु प्राप्त करते हैं, तो दोषयुक्त पांचों इन्द्रियों का जो गुलाम बन जाता है, उसके दुःख को तो कोई हद ही नहीं है।

**न हि सोऽस्तीन्द्रियविषयो येनाभ्यस्तेन नित्यतृषितानि ।**

**तृप्तिं प्राप्नुयुरक्षाण्यनेकमार्गप्रलीनानि ॥४८॥**

ऐसा कोई इन्द्रियों का विषय नहीं है, जिसके चिरकाल तक सेवन करने से हमेशा प्यासी बनी हुई और अनेक विषयों में भटकने वाली इन्द्रियाँ कभी तृप्त हो सकें। मतलब यह है कि इन्द्रियों की कभी तृप्ति नहीं हो सकती।

**कश्चिच्छुभोऽपि विषयः परिणामवशात्पुनर्भवत्यशुभः ।**

**कश्चिदशुभोऽपि भूत्वा कालेन पुनः शुभोभवति ॥४९॥**

कोई शुभ विषय भी परिणामों की धारा के कारण बाद में अशुभ हो जाता है और कहीं कोई विषय अशुभ होने पर भी कालान्तर में शुभ-परिणामवश शुभ हो जाता है।

वीणा, बांसुरी, गीत आदि की ध्वनि पहले मधुर लगती है, परन्तु भूख अथवा प्यास से पीड़ित होने पर वही मधुर ध्वनि कर्णकटु लगने लगती है। अतः इन्द्रियों का प्रेम अस्थिर है।

**कारणवशेन यद्यत् प्रयोजनं जायते यथा तत्र।**
**तेन तथा तं विषयं शुभमशुभं वा प्रकल्पयति ॥५०॥**

कारणवश तथा जहां जो जो प्रयोजन उत्पन्न होते हैं, उसी तरह वहां इन्द्रियासक्त मनुष्य शुभ अथवा अशुभ विषय की कल्पना करता है।

**अन्येषां यो विषयः स्वाभिप्रायेण भवति तुष्टिकरः।**
**स्वमतिविकल्पाभिरतास्तमेव भूयो द्विषन्त्यन्ये ॥५१॥**

जब अपनी दृष्टि से संतुष्टिकर विषय दूसरों को प्राप्त हो जाता है तो फिर अपनी इन्द्रिय-विषयासक्त बुद्धि के विकल्पों में रत लोग उसी (अन्य को प्राप्त) विषय से द्वेष करने लगते हैं।

जो विषय एक को अच्छा लगता है, वही विषय दूसरे को अच्छा नहीं लगता। वास्तव में विषय की अच्छाई या बुराई मनुष्य के प्रयोजन पर निर्भर है। और इसी के कारण वह राग और द्वेष करता है।

**तानेवार्थान् द्विषतस्तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य।**
**निश्चयतोऽस्यानिष्टं न विद्यते किञ्चिदिष्टंवा ॥५२॥**

एक मनुष्य जिस वस्तु में द्वेष करता है, उसी वस्तु पर दूसरा मोह (राग) करता है। निश्चयनय की दृष्टि से तो कोई भी

वस्तु अपने आप में इष्ट अथवा अनिष्ट नहीं होती। उपाध्याय यशोविजयजी ने इसी वस्तु की पुष्टि की है—

तेष्वेव द्विषतः पुंसस्तेष्वेवार्थेषु रज्यतः।
निश्चयात्किञ्चिदिष्टं वाऽनिष्टं वा नैव विद्यते॥

अध्यात्मसार, समता-अधिकार श्लोक ३

**रागद्वेषोपहतस्य केवलं कर्मबन्ध एवास्य।**
**नान्यः स्वल्पोऽपि गुणोऽस्ति यः परत्रेह च श्रेयान् ॥५३॥**

इस प्रकार राग और द्वेष के थपेड़ों से आहत व्यक्ति केवल कर्मबन्ध ही करता है। दूसरे किसी थोड़े से भी गुण को प्राप्त नहीं करता; जो उसके लिये इस लोक और परलोक में श्रेयस्कर हो।

**यस्मिन्निन्द्रियविषये शुभमशुभं वा निवेशयति भावम्।**
**रक्तो वा दिष्टो वा स बन्धहेतुर्भवति तस्य ॥५४॥**

जो मनुष्य इन्द्रिय के विषय में शुभ या अशुभ भाव की स्थापना (कल्पना) करता है, वह चाहे रागयुक्त हो या द्वेषयुक्त, उसके लिये बन्धन का ही कारण बनता है।

**स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्।**
**रागद्वेषक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवं ॥५५॥**

तेल आदि स्निग्ध पदार्थों के चुपड़े जाने के बाद धूल बहुत जल्दी चिपट जाती है, वैसे ही रागद्वेष से रंगे (स्निग्ध) हुए जीव के भी कर्मबन्ध शीघ्र हो जाते हैं।

उपाध्याय यशोविजयजी ने भी कहा है :—

"स्नेहाभ्यक्ततनोरंगं रेणुना श्लिष्यते यथा।
रागद्वेषानुविद्धस्य कर्मबन्धस्तथा मतः॥'

अध्यात्मसार, आत्मनिश्चय ११२ श्लोक

एवं रागद्वेषौ मोहो मिथ्यात्वमविरतिश्चैव ।

एभिः प्रमादयोगानुगैः समादीयते कर्म ॥५६॥

इस प्रकार राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद ये जब मन, वचन, काया के योगों (व्यापारों) के साथ जुड़ जाते हैं, तब जीव कर्मों को ग्रहण (आश्रव) करता है।

कर्ममयः संसारः संसारनिमित्तकं पुनर्दुःखम् ।

तस्माद्रागद्वेषादयस्तु भवसंततेर्मूलम् ॥५७॥

यह संसार कर्ममय है और दुःख का कारण संसार है। अतः राग-द्वेष आदि जन्म-मरणरूप संसार की परम्परा के मूल हैं।

एतद्दोषमहासंचयजालं शक्यमप्रमत्तेन ।

प्रशमस्थितेन घनमप्युद्घट्टयितुं निरवशेषम् ॥५८॥

अप्रमत्त और प्रशान्त रस (वैराग्य)से युक्त महापुरुष इस दोष-रूपी महासचय के घने जाल को भी अच्छी तरह से नष्ट करने में समर्थ है।

अस्य तु मूलनिबन्धं ज्ञात्वा तच्छेदनोद्यमपरस्य ।

दर्शन-चारित्रतपःस्वाध्याय-ध्यानयुक्तस्य ॥५९॥

प्राणिवधानृतभाषणपरधनमैथुनममत्वविरतस्य ।

नवकोट्या दृगमशुद्धोञ्छमात्रयात्राधिकारस्य ॥६०॥

जिनभाषितार्थ-सद्भावभाविनो विदितलोकतत्त्वस्य ।

अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारणे कृतप्रतिज्ञस्य ॥६१॥

**परिणाममपूर्वमुपागतस्य शुभभावनाध्यवसितस्य ।**
**अन्योन्यमुत्तरोत्तरविशेषमभिपश्यतः समये ॥६२॥**

**वैराग्यमार्गसंस्थितस्य संसारवासचकितस्य ।**
**स्वहितार्थाभिरतमतेः शुभेयमुत्पद्यते चिन्ता ॥६३॥**

इसका मूल कारण जान करके जो उसका उच्छेद करने के लिये प्रयत्नशील होता है, वह सम्यग्दर्शन, चारित्र, तप, स्वाध्याय और ध्यान से युक्त होता है, हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और ममत्व से रहित हो जाता है। नव कोटि से शुद्ध, निर्दोष, आहारमात्र पर वह अपनी संयमयात्रा चलाता है।

वह श्री जिन सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए सिद्धान्तों की भावना पर विचार करता है, तथा लोकतत्व का ज्ञाता एवं अठारह हजार शीलांगों को जीवन में धारण करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होता है। अपूर्व-अपूर्व परिणामों को प्राप्त करने वाला, शुभ अध्यवसायशील व्यक्ति सिद्धान्तों की परस्पर संगति एवं उतरोत्तर विशेषता का रहस्य मालूम कर लेता है। इसी तरह वह वैराग्यमार्ग में लीन होता है संसारवास से भयभीत रहता है और आत्महित (मोक्ष) में सदा रत रहता है, ऐसे भाग्यशाली को ही इस प्रकार का शुभ चिन्तन होता है।

**भवकोटिभिरसुलभं मानुष्यं प्राप्य कः प्रमादो मे ।**
**न च गतमायुर्भूयः प्रत्येत्यपि देवराजस्य ॥६४॥**

करोड़ों भवों में भी दुर्लभ मनुष्यजन्म पाकर भी मैं प्रमाद में क्यों पड़ा हूं ? क्योंकि बीता हुआ आयुष्य (अवसर) देवराज इन्द्र को भी मिलना अतिकठिन है।

**आरोग्यायुर्बलसमुदयाश्चला वीर्यमनियतं धर्मे ।**
**तल्लब्ध्वा हितकार्ये मयोद्यमः सर्वथा कार्यः ॥६५॥**

आरोग्य, आयुष्य, शरीर आदि का बल चंचल है और धर्म में वीर्य (उत्साह) भी नित्य नहीं है। अतः मनुष्य-जीवन पाकर कल्याण के कार्यों में मुझे हमेशा उद्यम करना चाहिये।

**शास्त्रागमादृते न हितमस्ति न च शास्त्रमस्ति विनयमृते।**
**तस्माच्छास्त्रागमलिप्सुना विनीतेन भवितव्यम् ॥६६॥**

शास्त्र-ज्ञान के बिना कल्याण नहीं हो सकता और विनय के बिना शास्त्रज्ञान प्राप्त नहीं होता। अतः शास्त्रज्ञान के अभिलाषी को विनीत होना ही चाहिये।

**कुलरूपवचन-यौवन-धन-मित्रैश्वर्यसम्पदपि पुंसाम्।**
**विनयप्रशमविहीना न शोभते निर्जलेव नदी ॥६७॥**

कुल, रूप, वचन, यौवन, धन, मित्र और ऐश्वर्यरूपी संपत्ति मनुष्य के पास होने पर भी वह विनय और वैराग्य से रहित हो तो निर्जल (बिना पानी की सूखी) नदी की तरह शोभा नहीं देती।

**न तथा सुमहार्घ्यैरपि वस्त्राभरणैरलंकृता भाति।**
**श्रुतशीलमूलनिकषो विनीतविनयो यथा भाति ॥६८॥**

बहुमूल्य वस्त्रों और गहनों से सुसज्जित व्यक्ति भी (सदाचारी न हो तो) वैसा अच्छा नहीं लगता, जैसा कि श्रुत (शास्त्रज्ञान) और शील की मूल कसौटीरूप विनय से परिपूर्ण मनुष्य अच्छा लगता है।

**गुर्वायत्ता यस्माच्छास्त्रारम्भा भवन्ति सर्वेऽपि।**
**तस्माद् गुर्वाराधनपरेण हितकांक्षिणा भाव्यम् ॥६९॥**

शास्त्रों को पढ़ना, उनके अर्थ सुनने में प्रवृत्त होना, सूत्रों को योगोद्वहनकाल में ग्रहण करवाना, स्वाध्याय के (अध्ययन) के लिये

अपने शिष्य को अन्यत्र भेजना और आचार्य, उपाध्याय, पन्यास आदि बहुश्रुत के पास जाकर उद्देश (निर्देश या प्रेरणा) समुद्देश (विशेष प्रकार का अध्ययन करवाना) अनुज्ञा (पढ़ने-पढ़ाने की आज्ञा देना) ये सब बातें गुरु के आधीन हैं। अतः आत्मार्थी साधक को गुरुदेव की आराधना में तत्पर होना चाहिये।

**धन्यस्योपरि निपतत्यहितसमाचरणधर्मनिर्वापी।**

**गुरुवदनमलयनिसृतो वचनसरसचन्दनस्पर्शः ॥७०॥**

अहितकर आचरण के ताप को शान्त करने वाले गुरुदेव के मुख-रूपी मलयपर्वत से निकले हुए वचनरूपी सरस-चन्दन का स्पर्श किसी विरले ही पुण्यशाली को नसीब होता है।

जैसे सरस चन्दन के लगाने पर जलन (दाह) मिट जाती है, वैसे ही गुरुदेव के स्नेहसिक्त हितकारी वचनों को सुनने से अहित (जन्म-जरामरणादि का) संताप मिट जाता है। मगर ऐसा संयोग किसी भाग्यशाली को ही मिलता है।

**दुष्प्रतिकारौ मातापितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन्।**

**तत्र गुरुरिहामुत्र च सुदुष्करतरप्रतीकारः ॥७१॥**

इस संसार में माता-पिता, स्वामी (मालिक) और विद्यागुरु के उपकार का बदला चुकाना, बहुत ही कठिन है। उसमें भी पूज्य गुरु-देव के उपकार का बदला चुकाना तो इस लोक और परलोक में भी अत्यन्त दुष्कर है।

**विनयफलं शुश्रूषा गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम्।**

**ज्ञानस्य फलं विरतिर्विरतिफलं चाश्रवनिरोधः ॥७२॥**

विनय का फल शुश्रुषा (सुनने की इच्छा) है, गुरु महाराज की शुश्रुषा (सेवा) का फल श्रुत (आगम ज्ञान है, ज्ञान का फल विरति (संयम) है और संयम का फल आस्रवनिरोध (संवर) है।

**संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम्।**
**तस्मात्क्रियानिवृत्तः क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥७३॥**

संवर का फल तपोबल (प्राप्त होना) है, तप का फल निर्जरा (कर्मपुद्गलों का एकदेश से क्षय) करना है। उससे क्रिया की निवृत्ति होती है और क्रिया-निवृत्ति से अयोगित्व (मन, वचन और काया के योग (व्यापार) का निरोध होता है।

**योगनिरोधाद्भवसंततिक्षयः संततिक्षयान्मोक्षः।**
**तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः ॥७४॥**

योगनिरोध से भव (संसार)-परम्परा समाप्त होती है और भव-परम्परा के समाप्त होने से मोक्ष प्राप्त होता है। अतः समस्त कल्याणों का कारण विनय है।

यही बात श्रीभगवतीसूत्र में भी कही है :—

सवणे नाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अणासवे तवे चेव, वोदाणे अकिरिय-सिद्धि ॥

दूसरा शतक, पांचवा उद्देश

गुरुदेवों की सेवा (उपासना-भक्ति) का फल शास्त्रों का श्रवण है। श्रवण का फल ज्ञान है और ज्ञान से विशिष्ट (सक्रिय अनुभव-युक्त) ज्ञान प्राप्त होता है। विशिष्ट ज्ञान से आत्मा प्रत्याख्यान करता है। प्रत्याख्यान से संयम का पालन करता है। संयम-पालन से नये कर्मों को रोकता है, नवीन कर्मों के आगमन से रहित जीव लघु-कर्म होने से तपश्चरण करता है और तप के द्वारा पुराने कर्मों का

क्षय करता है। कर्मों के क्षय हो जाने पर वह योगों का निरोध करके क्रियारहित हो जाता है और अन्त में सिद्धि-गति यानी मोक्ष को प्राप्त करता है।

**विनयव्यपेतमनसो गुरुविद्वत्साधुपरिभवनशीलाः।**
**त्रुटिमात्रविषयसङ्गादजरामरवन्निरुद्विग्नाः ॥७५॥**
**केचित्सातर्द्धिरसातिगौरवात्सांप्रतेक्षिणः पुरुषाः।**
**मोहात्समुद्रवायसवदामिषपरा विनश्यन्ति ॥७६॥**

जिन का मन विनय से रहित होता है, वे गुरुओं, विद्वानों और साधुओं का पराभव (निरादर) करते रहते हैं। त्रुटिरेणुओं (झरोखों के द्वारा आने वाली सूर्य-किरणों के साथ सतत लगे हुए जो धूल के कण दिखाई देते हैं उन्हें त्रुटिरेणु कहते है) के समान विषय में सदा ऐसे आसक्त रहते हैं, मानो वे सदा अजर-अमर ही रहेंगे। इसलिए निःशंक रहते हैं।

रसगौरव, सिद्धिगौरव और सातागौरव (सांसारिक सुख, सम्पत्ति और ईष्ट रस के पाने का अहंकार या बड़प्पन) में मग्न रहते हैं। आगे-पीछे का कुछ भी विचार नहीं करते और केवल वर्तमान के सुख को ही देखते हैं। ऐसे जीव मोहवश मांसलोलुपी समुद्री कौए की तरह अपना विनाश करते हैं।

**ते जात्यहेतुदृष्टान्तसिद्धमविरुद्धमजरमभयकरम्।**
**सर्वज्ञवाग्रसायनमपुनीतं नाभिनन्दन्ति ॥७७॥**

इस तरह वे वास्तविक हेतु और दृष्टान्त से सिद्ध, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अविरुद्ध एवं अजर तथा निर्भय बनाने वाले श्रीसर्वज्ञ-परमात्मा के वचनरूपी रसायन को पाकर भी उसका आदर नहीं करते।

श्री सर्वज्ञ प्रभु का द्वादशांगरूप प्रवचन रसायन के समान है जैसे रसायन के सेवन से शरीर निरोग हो जाता है, वैसे ही विधि-पूर्वक वचनों का आचरण करने से जन्म-मरण-रूपी प्रपञ्च नष्ट हो जाते हैं। अतः जिनवचन अजर, अमर और अभय बना देने वाले कहे हैं।

यद्वत् कश्चित् क्षीरं मधुशर्करया सुसंस्कृतं हृद्यम्।
पित्तार्दितेन्द्रियत्वाद्वितथमतिर्मन्यते कटुकम् ॥७८॥
तद्वनिश्चयमधुरमनुकम्पया सद्भिरभिहितं पथ्यम्।
तथ्यमवमन्यमाना रागद्वेषोदयोद्धताः ॥७९॥
जाति-कुल-रूप-बल-लाभ-बुद्धि-वाल्लभ्यक श्रुतमदान्धाः।
क्लीबाः परत्र चेह च हितमप्यर्थं न पश्यन्ति ॥८०॥

जैसे पित्त-विकार से पीड़ित इन्द्रियों वाला व्यक्ति मीठी शक्कर से भलीभांति सुसंस्कृत बढ़िया (मनोहर) क्षीर (खीर) के भोजन को कड़वा मानता है, वैसे ही राग-द्वेष के उदय से उद्धत, उन्मत्त, कायर एवं जाति, कुल, रूप, बल, लाभ, बुद्धि, वल्लभता (लोक-प्रियता) और शास्त्रज्ञता के मद (अभिमान) में अन्धे बने हुए व्यक्ति वास्तव में अनुकम्पापूर्वक गणधरादि सत्पुरुषों द्वारा उपदिष्ट (कथित) हितकारी व मधुर सत्यवचनों को भी ग्रहण नहीं करते, (ठुकरा देते हैं)। और इस लोक और परलोक में जो हितकारी मार्ग है उसे भी नहीं देखते हैं।

ज्ञात्वा भवपरिवर्तं जातीनां कोटिशतसहस्रेषु।
हीनोत्तममध्यत्वं को जातिमदं बुधः कुर्यात् ॥८१॥

संसार में परिभ्रमण का कारण व लाखों-करोड़ों एकेन्द्रियादि

जातियों में उत्तम, मध्यम और अधमरूप में जन्म-प्राप्ति जान कर कौन बुद्धिमान मनुष्य जातिमद करेगा ?

संसार में चौरासी लाख जीवयोनियां हैं। उनमें भी कर्मानुसार जघन्य, मध्यम और उत्तम कुल में जन्म लेना होता है। अतः इस संसार की विडम्बना को जान कर कौन मनुष्य जाति का अभिमान करेगा ?

**नैकान् जातिविशेषानिन्द्रियनिर्वृत्तिपूर्वकान् सत्त्वाः।**
**कर्मवशाद् गच्छन्त्यत्र कस्य का शाश्वता जातिः ॥८२॥**

कर्म के वश से जीव इन्द्रियों की रचनापूर्वक अलग-अलग अनेकों जातियों में जन्म लेते हैं। अतः इस संसार के चक्र में किसकी कौन-सी जाति शाश्वत है ? किसी की नहीं।

**रूपबलश्रुति-मति-शील-विभवपरिवर्जितांस्तथा दृष्ट्वा ।**
**विपुलकुलोत्पन्नानपि ननु कुलमानः परित्याज्यः ॥८३॥**

विशाल (उच्च) कुल में उत्पन्न होने वाले जीवों को भी रूप, बल, श्रुतज्ञान, बुद्धि, शील (आचार) और लक्ष्मी से हीन देख कर कुल का अभिमान छोड़ देना ही उचित है।

**यस्याशुद्धं शीलं प्रयोजनं तस्य किं कुलमदेन ।**
**स्वगुणाभ्यलंकृतस्य हि किं शीलव्रतस्य कुलमदेन ॥८४॥**

जिसका शील (चारित्र) अशुद्ध (दूषित) है उसे कुलमद करने से क्या प्रयोजन ? और जो शीलवान् है, तथा अपने आत्मगुणों से ही विभूषित है, उसे भी कुलमद करने से क्या मतलब है ?

दुःशील मनुष्य का गर्व उसकी दुःशीलता ही बढ़ाता है। शील के शुद्ध होने पर गर्व करने की जरूरत ही नहीं है; क्योंकि उसके गुण ही उसकी प्रशंसा का ढिंढोरा पीटने के लिए पर्याप्त हैं।

**कः शुक्रशोणितसमुद्भवस्य सततं चयापचयिकस्य ।**
**रोगजरापाश्रयिणोमदावकाशोऽस्ति रूपस्य ॥८५॥**

जो शारीरिक रूप वीर्य और रज से पैदा हुआ है; निरन्तर घटता-बढ़ता रहता है तथा रोग और बुढ़ापा आते ही क्षीण हो जाता है, उस (देह के) रूप का मद (घमंड) करने की गुंजाईश ही कहां है ?

माता-पिता के रज और वीय से मनुष्य का शरीर बनता है और माता के द्वारा खाये गये भोजन के रस से अङ्ग-उपाङ्ग विकसित होते हैं। नौ मास के बाद वह जन्म लेता है। उसके बाद माता के स्तनों का दूध पीकर शरीर का विकास करता है। पथ्य और रुचिकर भोजन मिलने पर शरीर पुष्ट होता है। अपथ्य और अरुचिकर भोजन से अथवा मन्दाग्नि आदि होने से शरीर दुर्बल हो जाता है। अतः शरीर हानि और वृद्धि से युक्त है। ज्वर, अतिसार, क्षय, खांसी आदि रोग तथा बुढ़ापे का घर है। ऐसे शरीर के रूप का कौन गर्व करेगा ?

**नित्यं परिशीलनीये त्वग्मांसाच्छादिते कलुषपूर्णे ।**
**निश्चयविनाशधर्मिणि रूपे मदकारणं किं स्यात् ॥८६॥**

शरीर का रूप हमेशा संस्कार (मेकअप) करने पर ही निखरता है, यह चमड़ी और मांस से ढका हुआ है; अन्दर तो मलमूत्र आदि घिनौने पदार्थों से भरा हुआ है। और एक दिन अवश्य ही नष्ट होने वाला है तब भला इस शरीर के रूप पर मद करने का कौन सा कारण रह जाता है अर्थात् कोई भी नहीं।

**बलसमुदितोऽपि यस्मान्नरः क्षणेन विबलत्वमुपयाति ।**
**बलहीनोऽपि च बलवान् संस्कारवशात् पुनर्भवति ॥८७॥**

**तस्माद्नियतभावं बलस्य सम्यग्विभाव्य बुद्धिबलात् ।**
**मृत्युबले चाऽबलतां मदं न कुर्याद्बलेनापि ॥८८॥**

जब बलसम्पन्न मनुष्य भी रोग, शोक, चिन्ता आदि कारणवश क्षण भरमें निर्बल (निढाल) बन जाता है। और बलहीन व्यक्ति भी व्यायाम, पौष्टिक भोजन आदि के कारण संस्कारवश पुनः बलवान बन जाता है। अतः अपनी सम्यग्बुद्धिबल से भलीभांति विचार कर, शरीर का बल सदा नियत नहीं है, तथा मृत्यु के सामने सभी शरीरसम्बन्धी बल निर्बल हैं ऐसा समझ कर बल का मद न करे।

**उदयोपशमनिमित्तौ लाभालाभावनित्यकौ मत्वा ।**
**नालाभे वैक्लव्यं न च लाभे विस्मयः कार्यः ॥८९॥**

लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से नित्य लाभ होता है, और लाभान्तराय कर्म के उदय से कुछ भी लाभ नहीं होता ! अतः लाभ अथवा अलाभ दोनों अनिश्चय हैं। ऐसा जानकर लाभ न होने (अलाभ) पर द्वेष और लाभ (प्राप्ति) होने पर विस्मय (अहंकार) न करे ।

**परशक्त्यभिप्रसादात्मकेन किञ्चिदुपभोगयोग्येन ।**
**विपुलेनापि यतिवृषा लाभेन मदं न गच्छन्ति ॥९०॥**

दूसरों की दानशक्ति और मेहरबानी से प्राप्य होने वाले किसी भी उपभोगयोग्य पदार्थों के प्रचुरमात्रा में प्राप्त (महालाभ) होने पर भी मुनिवर्य मद नहीं करते। पौष्टिक आहार मिले, चाहे रूखा-सूखा ; दोनों अवस्थाओं में मुनि समभाव रखते हैं।

**ग्रहणोद्ग्राहण-नवकृति-विचारणार्थावधारणाद्येषु ।**
**बुद्धयङ्गविधिविकल्पेष्वनन्तपर्यायवृद्धेषु ॥९१॥**

**पूर्वपुरुषसिंहानां विज्ञानातिशयसागरानन्त्यम् ।**
**श्रुत्वा साम्प्रतपुरुषाः कथं स्वबुद्धया मदं यान्ति ॥९२॥**

शास्त्र के अर्थ को ग्रहण करना, दूसरों को उपदेश देना, नवीन रचना करना, चिन्तन-मनन करना आदि सब बुद्धि के अंग हैं। फिर एक ही पदार्थ के विधि निषेधरूप अनेक विकल्प, गम और अनन्त पर्याप्त होते हैं। बुद्धि में वस्तु के उन अनन्त पर्यायों को समा लेने वाले चौदह महापूर्व या पूर्वों के ज्ञाता पुरुषसिंह हैं। समुद्र के समान उनके विशाल अनन्त ज्ञानातिशय को जानने, सुनने के बाद वर्तमान काल का अल्पबुद्धि वाला मनुष्य (उनके सामने) अपनी बुद्धि का मद कर ही कैसे सकता है ?

श्री जिन भगवान के वचन समुद्र के समान गम्भीर और अनन्त से, वर्तमान बुद्धि क्षुद्र हैं। अतः ज्ञान का गर्व नहीं करना चाहिये।

**द्रमकैविरव चाटुकर्मकमुपकारनिमित्तकं परजनस्य ।**
**कृत्वा यद्वाल्लभ्यकमवाप्यते को मदस्तेन ॥९३॥**

भिखारी लोग किसी मनुष्य के द्वारा जरा से उपकार का निमित्त मिलने पर उसके सामने चापलूसी करते रहते हैं। उस चापलूसी से भिखारियों की नैमित्तिक (अस्थायी) प्रीति पाकर क्या लोकप्रियता का मद किया जा सकता है ? क्योंकि वह प्रीति तो स्वार्थी और अस्थायी है।

**गर्वपरप्रसादात्मकेन वाल्लभ्यकेन यः कुर्यात् ।**
**तद्वाल्लभ्यकविगमे शोकसमुदयः परामृशति ॥९४॥**

दूसरों की कृपा पर आश्रित वल्लभता (प्रीति) का जो मनुष्य अभिमान करता है, उस वल्लभता (प्रीति) के नष्ट होते ही उसके मन पर अत्यन्त शोक छा जायेगा।

**माषतुषोपाख्यानं श्रुतपर्यायप्ररूपणांचैव ।**
**श्रुत्वाऽतिविस्मयकरं विकरणं स्थूलभद्रमुनेः ॥९५॥**

**सम्पर्कोद्यमसुलभं चरणकरणसाधकं श्रुतज्ञानम् ।**
**लब्ध्वा सर्वमदहरं तेनैव मदः कथं कार्यः ॥९६॥**

माषतुष मुनि की कथा को सुनकर, श्रुतज्ञान के भेदों का प्ररूपणा सुनकर तथा श्रीस्थूलभद्र मुनि की अतिविस्मयकारी विक्रिया को सुन कर ज्ञानियों के सत्संग से और अपने पुरुषार्थ से साध्य-सुलभ एवं समस्त मदों को दूर करने वाले चरणकरण के साधनरूप शास्त्र-ज्ञान को पाकर उसका अभिमान कैसे किया जा सकता है ?

पाटलीपुर में दो भाई रहते थे। गुरु महाराज के अमृतमय उपदेश सुन कर वैराग्य हो जाने से, उन्होंने चारित्र (मुनिदीक्षा) ग्रहण किया। उनमें एक भाई ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण सिद्धान्तरूपी समुद्र का पारगामी हुआ और गुरु ने योग्य जान कर उसे आचार्यपद दिया। इससे वे पांच सौ साधुओं के स्वामी हुए। वे सब साधुओं को वाचना देते थे। जिस दिन साधुओं को जब जब सन्देह होता तो बारम्बार उनके पास जाकर अपनी शंकाओं का समाधान करते रहते थे। आचार्य को इससे रात में नींन्द लेने का समय नहीं मिलता था। आचार्य श्री जी को जरा-सी नींद आती कि उसी समय कोई साधु आकर पूछता कि हे पूज्य ! इसके आगे का वाक्य कह कर उसका अर्थ समझाइये एक दिन ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण उनके मन में विचार आया कि मेरी शास्त्र की पढ़ाई को धिक्कार है। इससे मुझे तो एक क्षणभर भी सुख नहीं मिल सकता। और मेरे भाई को धन्य है कि वह मजे से सुख की नींद सोता है; स्वेच्छा से

भोजन करता है, मनचाहा बोलता है। अतः मुझे आज से ही पठन-पाठन कार्य बन्द कर देना चाहिये। इस तरह विचार कर आचार्य ने पुण्यरूपी अमृत का घड़ा फोड़ दिया, और पाप का घड़ा भरने में तल्लीन होकर मौन रहने लगे। उन्होंने सबको वाचना देना बन्द कर दिया। ज्ञान के प्रति द्वेष करने लगे। इस तरह ज्ञान की आशातना करके उन्होंने अपने उस पाप कर्म की आलोचना, प्रायश्चित्त लिये बिना ही आयुष्य पूर्ण किया। किन्तु चारित्रधर्म में स्थिर होने से सौधर्म देवलोक में देवता हुए।

वहां से च्यव करके वह आभीर (अहीर)का पुत्र हुआ। अनुक्रम से जवान हुआ, तब पिता ने योग्य कन्या के साथ विवाह कर दिया। एक पुत्री हुई। वह बड़ी रूपवती थी। एक बार कई आभीर घी की गाड़ियां भर कर एक बड़े शहर में बेचने जा रहे थे। वह अहीर भी उस समय घी की गाड़ी भर कर अपनी पुत्री को गाड़ी हांकने के लिये बैठा कर उनके साथ चल दिया। मार्ग में उस कन्या का मनोहर रूप एवं यौवनवय को देख कर दूसरी गाड़ियां वाले उस पर मोहित हो गये। उनका मन मोहग्रस्त होने से वे सही रास्ता छोड़ ऊजड़ मार्ग में गाड़ियां चलाने लगे। जिससे गाड़ियां टूट गई। यह वृत्तान्त जानकर उस आभीर-कन्या के पिता ने विचार किया— धिक्कार है संसार के नाटक को! यह जीव कामान्ध बनकर अपने हित की भी परवाह न करके मोह से घिर जाता है। इस तरह विचार करते-करते उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ। फिर उसने शहर में घी बेचा और घर आकर अपनी पुत्री का योग्य लड़के के साथ विवाह करके, सद्गुरु के पास आकर मुनि-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेने के बाद वे शास्त्रज्ञान का अभ्यास करने लगे। क्रमशः उत्तराध्ययन सूत्र के तीन अध्ययन पूर्ण करने के बाद चौथे अध्ययन का अभ्यास करते समय पूर्व-संचित ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से एक

अक्षर भी न पढ़ सके। गुरु-महाराज ने अत्यन्त प्रयत्न किया परन्तु वे सभी प्रयत्न निष्फल हुए। आखिर गुरु-महाराज ने कहा 'मुने! तुम आयंबिल तप करो और '-मारुस मातुस" (रोष न करो तोष राग या मोह न करो) इस तरह रागद्वेष के निग्रह करने के रहस्य वाला पद याद करते रहो।" वह मुनि उस पद को उच्च स्वर से बोलने लगा। फिर भी वह पद कंठस्थ नहीं हुआ। अतः उस पद में से 'रु' और 'मा' अक्षर को छोड़कर अस्पष्ट 'मासतुष' का ही उच्चारण करने लगे, फलतः उस मुनि का नाम 'मासतुष' पड़ गया।

अशुद्ध बोलने से मुनि का सब उपहास करते थे। मुनि क्षमा के धारक थे। सर्व-सिद्धान्तों के सारभूत उसी पद को बोलते थे। रागद्वेष का त्याग करने से और गुरु-महाराज की आज्ञानुसार १२ वर्ष तक लगातार आयंबिल तप करने से गाढ ज्ञानावरणीय कर्मक्षय कर सकललोकप्रकाशरूप केवलज्ञान प्राप्त करके वे मोक्ष के अधिकारी हुए।

माषतुस मुनि की इस कथा को सुनकर "मैंने बहुत पढ़ा है और मैं सभी शास्त्रों के अर्थ जानता हूं" ऐसा गर्व करना निःसार है।

आगम-ज्ञान के बहुत भेद हैं। कोई एक अर्थ की व्याख्या करता है, और कोई दो अर्थ की व्याख्या करता है। तथा कोई उस एक ही सूत्र के अनेक अर्थ करता है।

पाटलीपुत्र श्रीसंघ के आग्रह से श्रीभद्रबाहु स्वामी पांच सौ मुनियों को दृष्टिवाद की सदैव सात वाचना देते थे। परन्तु वाचना समय के अनुकूल न होने से सब मुनि अन्यत्र विहार कर गये। उनमें से केवल स्थूलभद्र मुनि रह गये और उन्होंने संलग्नतापूर्वक

अध्ययन करते हुए दो वस्तुओं के सिवाय दश पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

एक समय स्थूलभद्रमुनि एकान्त में बैठे अध्ययन कर रहे थे। उस वक्त उनकी यक्षा आदि सात बहिनें श्रीभद्रबाहु स्वामीजी के दर्शनार्थ आईं। उन्होंने वहां स्थूलभद्र को न देखकर उनके सम्बन्ध में पूछा तो भद्रबाहु ने उन्हें स्थूलभद्रजी के स्वाध्याय का स्थल बतला दिया। साध्वियां स्थूलभद्र के दर्शनार्थ पहुंची। परन्तु स्थूलभद्र अपनी श्रुतशक्ति (मैं इतना पढ़ा हूं) का परिचय कर देने के लिए सिंह का रूप बना कर बैठ गये। साध्वियां डर गईं और भद्रबाहु के पास आकर कहने लगी—'हे स्वामी! वहां स्थूलभद्र नहीं है, बल्कि एक सिंह है, भद्रबाहु ने बताया कि 'स्थूलभद्र ने ही सिंह का रूप बनाया है, साध्वियों ने पुनः जा कर स्थूलभद्र के दर्शन किये।

इसके बाद स्थूलभद्र श्रीभद्रबाहुजी के पास वाचना लेने गये। तब भद्रबाहु स्वामी ने स्थूलभद्र से कहा—'तुमने श्रुतज्ञान का दुरुपयोग किया है। तुम अब वाचना के अयोग्य हो। अतः तुम्हें मैं वाचना नहीं दे सकता। फिर श्रीसंघ ने श्रीभद्रबाहुजी से अति-आग्रह किया। तब श्रीभद्रबाहु स्वामी ने शेष चार पूर्वों की केवल मूलसूत्र के रूप में वाचना दी। परन्तु दूसरों को इन पूर्वों के पढ़ाने की आज्ञा नहीं दी।

स्थूलभद्र अपने ज्ञानाभिमान के कारण चार पूर्वों के अर्थ से वंचित रहे। अतः स्थूलभद्र मुनि की इस प्रेरणादायनी आश्चर्य-मयी कथा को सुनकर कौन शास्त्रज्ञान का अभिमान करेगा।

**एतेषु मदस्थानेषु निश्चये न च गुणोऽस्ति कश्चिदपि।**
**केवलमुन्मादः स्वहृदयस्य संसारवृद्धिश्च ॥९७॥**

मद के कारणों (स्थानों) से वास्तव में कोई भी गुण नहीं

दिखता। इन मदों को प्रकट करके केवल अपने हृदय का उन्माद ज़ाहिर करना है और संसारवृद्धि करनी है।

**जात्यादिमन्दोन्मत्तः पिशाचवद् भवति दुःखितश्चेह।**
**जात्यादिहीनतां परभवे च निःसंशयं लभते ॥९८॥**

जाति आदि के मद से मदोन्मत्त बना हुआ जीव इस भव में पिशाच की तरह दुःखी होता है, और अगले भव में निःसंदेह वह हीन (नीच) जाति आदि में जन्म पाता है।

एक पुरुष को जाति के अभिमान के कारण पवित्रता के अभिमान का भूत लग गया। अपने को पवित्र रहने की इच्छा से वह मनुष्य बस्ती को छोड़ कर समुद्र के बीच में एक निर्जन टापू (द्वीप) में जा कर रहने लगा। एक बनिये का जहाज उसी समुद्र में डूबने से वह भी बहता हुआ उसी द्वीप में उससे पहले जा पहुंचा था। उस द्वीप में ईख बहुत होती थी। वह केवल उसी का रस पीता था, अतः उसे गुड़ के पिंड की सी टट्टी होने लगी। उस पवित्रताभिमानी पुरुष ने इन पिंडों को चखा तो उसे वे बड़े स्वादिष्ट लगे। अब वह प्रतिदिन उन्हीं को खा कर बड़ा खुश रहने लगा। एक समय उसकी दृष्टि घूमते हुए उस बनिये पर पड़ी। उसे देख कर वह बड़ा उद्विग्न हुआ और उस स्थान को त्याग कर दूसरे द्वीप में चला गया। वहां पर भी वह दूषित फलों को खाता। इस तरह जहां-जहां गया वहां-वहां वह दुःखी हुआ। अतः जो मनुष्य जाति आदि का अभिमान करता है, उसे उस पुरुष की तरह इस लोक और परलोक में दुःखी होना पड़ता है।

**सर्वमदस्थानानां मूलोद्घातार्थिना सदा यतिना।**
**आत्मगुणोत्कर्षः परपरिवादश्च संत्याज्यः ॥९९॥**

समस्त मदस्थानों के मूल को उखाड़ देना चाहने वाले मुनि को सर्वदा अपने गुणों की प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करना छोड़ देना चाहिये।

**परपरिभवपरिवादात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म ।**

**नीचैर्गोत्रं प्रतिभवमनेकभवकोटिदुर्मोचम् ॥१००॥**

दूसरों का अपमान, और उनकी निन्दा तथा अपनी प्रशंसा करने से प्रत्येक भव (जन्म) में नीचगोत्र कर्म का बन्धन होता है, जो करोड़ों भवों तक छूटना कठिन हो जाता है।

**कर्मोदयनिर्वृत्तं हीनोत्तममध्यमं मनुष्याणाम् ।**

**तद्विधमेव तिरश्चां योनिविशेषान्तरविभक्तम् ॥१०१॥**

मनुष्य कर्मों के उदय से ही नीचपन, उच्चपन, और मध्यमपन प्राप्त करते हैं। इसी तरह तिर्यञ्चों को भी प्राप्त होता है। दोनों में अन्तर केवल योनिविशेष का ही है।

मनुष्य हो चाहे तिर्यञ्च; अपने नीचगोत्रकर्म के उदय से ही नीचपन प्राप्त करता है; उच्चगोत्रकर्म के उदय से उच्चपन प्राप्त करता है और दोनों के उदय के मेल से मध्यमपन प्राप्त करता है। दोनों में योनिभेद है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय ये तिर्यञ्च के भेद हैं और समूर्च्छन व गर्भज आदि मनुष्य के भेद हैं।

**देश-कुल-देह-विज्ञानायुर्बलभोगभूतिवैषम्यम् ।**

**दृष्ट्वा कथमिह विदुषां भवसंसारे रतिर्भवति ॥१०२॥**

देश, कुल, शरीर, विशेषज्ञान, आयु, बल, भोग और लक्ष्मी की

विषमता देख कर विद्वान पुरुषों का इस जन्म-मरण के चक्ररूप संसार में कैसे अनुराग हो सकता है ?

एक आर्यदेश में जन्म लेता है, दूसरा अनार्यदेश में। कोई उच्चकुल में जन्म लेता है तो कोई म्लेच्छ, दरिद्र आदि नीच कुल में जन्म लेता है। किसी का शरीर शुभ लक्षण और सुन्दर अवयवों से युक्त है तो किसी का शरीर कुबड़ा, लंगड़ा, अन्धा, गूंगा है। किसी को विशिष्ट ज्ञान है, तो कोई अज्ञानी है। किसी की आयु बहुत लम्बी है, तो कोई गर्भ में आते ही या जन्मते ही छोटी उम्र में ही मर जाता है। कोई बड़ा शक्तिशाली होता है तो कोई अत्यन्त कमजोर होता है। कोई अनेक भोग भोगता है तो कोई उन्हें भोगने में असमर्थ है। किसी के पास मणि, मणिक्य, सोना, चांदी आदि के रूप में लक्ष्मी है, तो कोई गरीबी में दुःख के दिन काट रहा है। इस प्रकार की विषमता देख कर कौन समझदार मनुष्य संसार में आसक्त होगा ? वह तो ऐसे विषम संसार से विरक्त ही रहेगा।

**अपरिगणितगुणदोषः स्वपरोभयबाधको भवति यस्मात् ।**
**पञ्चेन्द्रियबलविबलो रागद्वेषोदयनिबद्धः ॥१०३॥**

राग, द्वेष और विषय-कषायों के गुण-दोष नहीं समझने वाला व्यक्ति राग-द्वेष के उदय से जकड़ जाता है और पांचों इन्द्रियों के बल के आगे निर्बल (कायर) बन जाता है। ऐसा इन्द्रिय-विषयों का गुलाम जीव अपने और दूसरों के लिए बाधक बन जाता है। यानी वह अपनी भी हानि करता है दूसरे को भी हानि पहुंचाता है।

**तस्माद् रागद्वेषत्यागे पञ्चेन्द्रियप्रशमने च ।**
**शुभपरिणामावस्थितिहेतोर्यत्नेन घटितव्यम् ॥१०४॥**

ऐसा सोच कर शुभ परिणामों में अपनी आत्मा को स्थिर रखने के लिए रागद्वेष का त्याग करने तथा पांचों इन्द्रियों को शान्त करने का विवेकपूर्वक प्रयत्न करना चाहिये।

**तत्कथमनिष्टविषयाभिकांक्षिणा भोगिना वियोगो वै ।**
**सुव्याकुलहृदयेनापि निश्चयेनागमः कार्यः ॥१०५॥**

प्रश्न होता है कि जो मनुष्य रात-दिन अनिष्ट विषयों की प्राप्ति की आकांक्षा करता रहता है, वह इनसे कैसे अपना मुंह मोड़ सकता है ?

इसके उत्तर में ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति को अति-व्याकुल हृदय (तड़फन भरे हृदय) से शास्त्रों का विधिपूर्वक ज्ञानाभ्यास करना चाहिये। ज्ञान ही मनुष्य को विषयों से विरत कर सकता है।

**आदावत्यभ्युदया मध्ये शृंगार-हास्य-दीप्तरसाः ।**
**निकषे विषया बीभत्सकरुण-लज्जा-भयप्रायाः ॥१०६॥**

ये विषय प्रारम्भ में अभ्युदय करते मालूम होते हैं। मध्य में शृंगार रस, हास्यरस तथा कामरस को दीप्त करने वाले हैं और अन्त में बीभत्स (घृणा) करुणा, लज्जा और भय से युक्त होते हैं।

यहां पर विषय के तीन रूपों का परिचय दिया है। प्रारम्भ में विषय में प्रवृत्त होते ही कुतूहल, उत्सुकता और उत्साह होता है, मध्य में शृंगार हास्य, मोह और सम्भोग होता है और अन्त में विषयों के अत्यन्त भोगने के परिणामस्वरूप ग्लानि, घृणा, करुणा, लज्जा व भय उत्पन्न होता है।

**यद्यपि निषेव्यमाणा मनसः परितुष्टिकारका विषयाः ।**
**किंपाकफलादनवद्भवन्ति पश्चादतिदुरन्ताः ॥१०७॥**

यद्यपि सेवन करते समय मन को विषय बहुत ही सुखदायक लगते हैं, किन्तु किंपाक फल खाने के बाद होने वाले दुष्परिणामों की तरह ये भी अत्यन्त दुःखद परिणाम लाते हैं।

किंपाक वृक्ष का फल देखने में सुन्दर, खाने में बड़ा स्वादिष्ट और गन्ध में सुगन्धित होता है, परन्तु खाने के बाद मृत्यु का कारण होता है; वैसे ही विषयसुख देखने में तथा स्वाद आदि में सुन्दर दिखते हैं; किन्तु अन्त में दुर्गति का कारण बनते हैं।

**यद्वच्छाकाष्टादशमन्नं बहुभक्ष्यपेयवत् स्वादु ।**
**विषसंयुक्तं भुक्तं विपाककाले विनाशयति ॥१०८॥**

जैसे अठारह प्रकार के शाक बहुत ही खाने योग्य और पीने योग्य मधुर अन्न-जल होने पर भी यदि विष मिले हुए हों तो खाने के बाद विनाशकारी होते हैं।

**तद्वदुपचारसंभृतरम्यकरागरस-सेविता विषयाः ।**
**भवशतपरम्परास्वपि दुःखविपाकानुबन्धकराः ॥१०९॥**

उसी तरह चापलूसी, नम्रता आदि से बढ़ती हुई रम्यता और रागरूपी रस से भोगे हुये विषयसुख सैकड़ों भवों (जन्मों) की परम्परा में भी दुःखविपाक (दुःखद फल) की परम्परा बढ़ाने वाले हैं।

**अपि पश्यतां समक्षं नियतमनियतं पदे-पदे मरणम् ।**
**येषां विषयेषु रतिर्भवति न तान् मानुषान् गणयेत् ॥११०॥**

नियत और अनियत मृत्यु स्थान-स्थान पर प्रत्यक्ष देखते हुए भी जिनकी विषयों में आसक्ति नहीं छूटी; उनकी गणना मनुष्यों में नहीं करनी चाहिये।

मृत्यु दो प्रकार से होती है :—नियतकालिक और अनियत-

कालिक। देवों और नारकों की मृत्यु नियतकालिक अर्थात् अपनी निश्चित आयुष्य पूर्ण होने पर ही होती है। किन्तु मनुष्यों और तिर्यञ्चों की मृत्यु अनियतकालिक (अकाल में भी) हो जाती है। संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं,जहां मृत्यु नहीं होती हो। फिर भी आयु को अनित्य जान कर भी जो मनुष्य विषयों में फंसा रहता है, उसे मनुष्य नहीं समझना चाहिये। यानी उसे मनुष्य की आकृति में पशु ही समझना चाहिये।

**विषमपरिणामनियमो मनोऽनुकूल विषयेष्वनुप्रेक्ष्यः।**
**द्विगुणोऽपि च नित्यमनुग्रहोऽनवद्यश्च संचिन्त्यः ॥१११॥**

जैसे कोई व्यक्ति किसी के उपकार के बदले में दुगुना अनुग्रह करता है तो वह अनुग्रह निर्दोष हो तो भी विचार करना पड़ता है, उसी प्रकार मन के अनुकूल विषयों के बारे में भी बार बार विचार करना चाहिये कि इनका भी विषम परिणाम आना निश्चित है।

**इति गुणदोषविपर्यासदर्शनाद्विषयमूर्छितो ह्यात्मा।**
**भवपरिवर्तनभीरुभिराचारमवेक्ष्य परिरक्ष्यः॥ ११२॥**

वास्तव में आत्मा जब गुण को दोषरूप और दोष को गुणरूप देखती है, तब इसी तरह विपरीत देखने से विषयों में मूर्च्छित (गाढ़ आसक्त) हो जाती है। भव (संसार) परिभ्रमण से डरने वाले भव्यजनों को आचार (आचारांग) का अनुशीलन (बार-बार अध्ययन) करके अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिए।

**सम्यक्त्वज्ञान-चारित्र-तपो-वीर्यात्मको जिनैः प्रोक्तः।**
**पञ्चविधोऽयं विधिवत् साध्वाचारः समनुगम्यः ॥११३॥**

जिनेश्वर देवों द्वारा प्ररूपित दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, और वीर्याचार,इस तरह पांच प्रकार के साध्वाचार का विधिपूर्वक अनुसरण करना चाहिये।

**षड्जीवकायरक्षणतत्परता लौकिकसन्तानगौरवत्यागः ।**
**शीतोष्णादिपरीषहविजयः सम्यक्त्वमविकम्पम् ॥११४॥**

**संसारादुद्वेगः क्षपणोपायश्चकर्मणां निपुणः ।**
**वैयावृत्योद्योगः तपोविधिर्योषितां त्यागः ॥११५॥**

**विधिना भैक्ष्यग्रहणं स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिता शय्या ।**
**इर्याभाषाम्बरभाजनैषणाग्रहाः शुद्धाः ॥११६॥**

**स्थाननिषद्याव्युत्सर्ग-शब्द-रूपक्रियाः परान्योन्याः ।**
**पञ्चमहाव्रतदाढ्यं विमुक्ताः सर्वसंगेभ्यः ॥११७॥**

पृथ्वी आदि षड्जीवनिकायों (समस्त प्राणियों) की रक्षा (यतना) करना, संसार-सम्बन्धी गौरव का त्याग करना, शीत-उष्ण आदि बाईस परीषहों का जीतना सम्यक्त्व (सम्यग्-दर्शन) में निश्चल रहना, जन्म-मरण-चक्र-रूप संसार से भयभीत रहना, कर्मक्षय करने का निपुण (उचित) उपाय करना, वैयावृत्य (सेवा) करने में उद्यम (पुरुषार्थ) करना, विधिपूर्वक तपश्चर्या करना और स्त्रियों का (स्त्रीसंग का) त्याग करना। (आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में ये नौ अध्ययन संक्षेप से कहे हैं।) विधिपूर्वक भिक्षाग्रहण करना, स्त्री, पशु और नंपुसक से रहित शयनस्थान रखना। ईर्या, भाषा, वस्त्र, पात्र, एषणा और अवग्रह इन छहों बातों को शुद्ध रखना। (आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रथम चूलिका में इनके अधिकार (वर्णन) हैं।) स्थानक्रिया, निषद्याक्रिया

व्युत्सर्ग (मलादित्याग) क्रिया, शब्द-क्रिया, रूप (अनासक्ति) क्रिया, पर (दूसरों की सेवा) क्रिया अन्योन्य (परस्पर सहायता करने की) क्रिया, पंच महाव्रतों में दृढ़ता और सर्वसंगों(आसक्तियों) से विमुक्त (पृथक्) रहना। (आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुत स्कन्ध की द्वितीय चूलिका के नौ अध्ययनों के अधिकारों के ये नाम हैं।)

उपर्युक्त चार श्लोकों में ग्रन्थकार महानुभाव ने आचारांग सूत्र के प्रथम स्कन्ध के अन्तर्गत आये हुए अध्ययनों का सांकेतिक(पारिभाषिक) शब्दों में सही भाव को व्यक्त करके तथा उसी के द्वितीय श्रुत स्कन्धान्तर्गत अध्ययनों के विषयों को मौलिक शब्दों में घटा कर संपूर्ण चरण-करणानुयोग का समुचित परिचय दिया है। जिसका वर्णन इस प्रकार है —

आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम शस्त्र-परिज्ञा नामक अध्ययन में सामान्यता जीव के स्वरूप का वर्णन किया है। उसके पश्चात् पृथ्वीकाय,अपकाय,तेजस्काय,वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रस-काय का वर्णन किया है। तदनन्तर उनका हनन करना संसार के बन्धन का कारण है, अतः मन-वचन-काया से (भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल में हिंसा करना, कराना और अनुमोदन करना इस तरह १७ भेद वाली हिंसा का त्याग करके अपनी और उनकी रक्षा के लिए निर्देश किया है। उपर्युक्त क्रिया को प्रथम परिज्ञा से शुद्ध (भलीभांति) समझकर फिर प्रत्याख्यान परिज्ञा से भलीभांति समझने और वध-क्रिया का त्याग करने को उचित माना है।

लोकविजय नामक दूसरे अध्ययन में जन्ममरण-चक्ररूप संसार की आसक्तियों के मूलस्थानों कारणों)का संसर्ग छोड़ने (सम्पर्क से बचने) का उल्लेख किया है। जैसे माता-पिता पत्नी-पुत्र धन धान्य आदि। संसार की आसक्ति के कारण हैं। फिर यह बताया है कि जब अनगार

काम, क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत लेता है, तब वह लोक-विजयी कहलाता है। क्षमा, शान्ति, सरलता और संतोष से ही वह अपनी लोकयात्रा विजयपूर्ण कर लेता है

(३) 'शीतोष्ण' नामक तीसरे अध्ययन में कहा है कि मुनियों को सदा जाग्रत रहना चाहिये। प्रमाद का अवसर मिलने पर भी अप्रमत्तभाव से निर्भयी बने हुए साधक क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश मशक नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन बाईस परिषहों को सहते हैं। प्रमाद भय है और अप्रमाद अभय है। अतः मोक्षार्थी मुनियों को क्रोध, मान, माया, लोभ का परित्याग करके अपना जीवन बिताना चाहिये।

(४) सम्यक्त्व नामक चौथे अध्ययन में सम्यक्त्व का प्रतिपादन किया गया है। उसमें बताया है कि संसार में परिभ्रमण करने वाले जीव श्रद्धारहित होकर अपने जीवन का दुरुपयोग करते रहते हैं। संसार के कर्मबन्ध के जो कारण हैं वे ही कर्म-मुक्ति के कारण (बन सकने) हैं। जिस प्रकार शुष्क काष्ठ (सूखी लकड़ी) जल्दी जल जाती है, वैसे ही स्नेह (आसक्ति) रहित पुरुष कर्मों से सदा अलग हो जाता है। इसका मूल हेतु सम्यग्दर्शन है, जो शुभ परिणाम है।

(५) लोकसार नामक पाचवें अध्ययन में संसार के जन्ममरण के चक्र से उद्वेग (भयभीत रहने) का उल्लेख है;

(वह संसार बढ़ाता है) क्योंकि जो हिंसा आदि में लगा हुआ है, वह मुनि नहीं है। परन्तु जो हिंसा आदि में अनेक दोष देखकर उनसे विरक्त हो जाता है तथा कामभोग से विरक्त होकर अपरिग्रही बनता है, वही मुनि है। वह कुमार्ग को छोड़ कर लोक के सार को ग्रहण करता है।

(६) धूत नामक छठे अध्ययन में कुटुम्बी, मित्र, स्त्री-पुत्र आदि संसारी जीवों से निपेक्ष रहने, मुनियों को अल्प उपकरण रखने, शरीर को यथाशक्ति नियंत्रित रखने महापुरुषों के पवित्र चरित्र को देखते रहने का वर्णन है। तथा विवेकहीन जीव रोग की चिकित्सा में लाखों जीवों का नाश करते हैं, फिर भी उससे रोग शान्त नहीं होता। मुनि ऐसी चिकित्सा नहीं करते, क्योंकि हिंसा महा-भयंकर है, इत्यादि वर्णन है।

(७) महापरिज्ञा नामक सातवें अध्ययन में (जो आजकल व्युच्छिन्न है) साधु के लिए मूलगुण और उत्तरगुण को अच्छी तरह जान कर मन्त्र, तन्त्र तथा आकाशगामी विद्या का प्रयोग न करने का विधान है। प्रत्याख्यान-परिज्ञा में त्याग करने योग्य वस्तुओं का त्याग करके विरक्त होकर ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सदा तत्पर रहने का विधान है, उसे ही वास्तविक वैयावृत्य कहा गया है।

(८) विमोक्षयतना (कुशील-त्याग) नामक आठवें अध्ययन में श्रावकों के एकदेश से मोक्ष और साधुओं के सर्वदेश से मोक्ष का वर्णन है। साधु को परीषहों के आने पर दयाधर्म को नहीं छोड़ना चाहिये। बीमारी में साधु को गृहस्थ आदि से वैयावृत्य नहीं कराना चाहिये। नियमपरायण मुनि को साधुओं का वैयावृत्य (सेवा) विवेकपूर्वक करना चाहिये, और समय आने पर अपना भी वैयावृत्य विवेकपूर्वक करना चाहिए। सत्यवादी, पराक्रमी, संसारपारगामी, निर्भय, तत्वज्ञ, निर्लेप और सुश्रद्धावान् मुनि को जब मालूम पड़ जाय कि अब मेरा शरीर नष्ट होने वाला है, तब वह भक्तप्रत्याख्यान, इंगीत, पादपोगमन आदि अनशन (संल्लेखना-संथारा) करे अथवा विधिपूर्वक तपश्चरण करे, इस प्रकार का वर्णन किया गया है।

(९) उपधानश्रुत नामक नौवें अध्ययन में भगवान् महावीर-स्वामी के विहार और तप का वर्णन किया गया है। प्रभु महावीर

गृहस्थों से अलग रह कर ध्यान में निमग्न रहते; अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को समभाव से सहते, नियमित अशन-पान ग्रहण करते, रस (स्वाद) की इच्छा नहीं करते, दीक्षा लेने से लेकर उन्होंने कभी भी निद्रा नहीं ली। वे प्रतिबन्धरहित विहार करते थे, आत्मा की पवित्रता से मन वचन और काया पर संयम करके शान्त और निष्कपट प्रभु महावीर जब तक जीये तब तक उन्होंने पवित्र प्रवृत्ति की। इसी तरह अन्य मुनियों को भी प्रबल पराक्रमपूर्वक प्रमाद को छोड़ कर प्रवृत्ति करना चाहिए।

इसी सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रथम चूलिका के प्रथम 'पिण्डैषणा' नामक अध्ययन के भिक्षाचर्री के समय लिया जाने वाला जो आहार-पानी उद्गम, उत्पादन और एषणा-दोष से रहित हो, उसी से निर्वाह का विधान किया गया है, दूसरे शय्यैषणा नामक अध्ययन में स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित शुद्ध स्थान में निवास का विधान बताया है। तीसरे ईर्या नामक अध्ययन में साधु के भिक्षा लेने आदि के लिए गमनागमन-क्रिया का विधान है।

चौथे भाषा नामक अध्ययन में अविरुद्ध सोच कर बोलने का विधान है कि साधु या साध्वी को क्रोध आदि त्याग कर विचारपूर्वक, निश्चयपूर्वक, सुनने के बाद, उतावल में आकर नहीं, परन्तु विवेक से शान्तिपूर्वक निर्दोष भाषा बोलनी चाहिये।

पांचवे वस्त्रैषणा नामक अध्ययन में चारित्र की शुद्धता के लिए वस्त्र लेने का विधान है। साधु को कोमल, गुदगुदे, सुन्दर और बहुमूल्य वस्त्र न लेने का निर्देश है, और जिसमें कम आरंभ हो उसे ग्रहण करने का कहा है तथा पात्रैषणा नामक अध्ययन में उद्गमादि दोष से रहित पात्र ग्रहण करने का विधान है कि तुम्बे, लकड़ी या मिट्टी के पात्र निर्दोष देख कर ग्रहण करने चाहिये।

उसके पश्चात् द्वितीय श्रुतस्कन्ध की द्वितीय चूलिका का अधिकार कहते हैं। प्रथम अध्ययन में कायोत्सर्ग के योग्य स्थान का विधान है। दूसरे अध्ययन में स्वाध्याय करने योग्य स्थान का वर्णन है। तीसरे अध्ययन में मल-मूत्र के त्याग करने योग्य स्थान का वर्णन है। चौथे अध्ययन में सुनाई देने वाले (कानों में पड़ने वाले) शब्दों से जहां रागद्वेष पैदा होते हों, ऐसे स्थान का निषेध किया गया है। पांचवे अध्ययन में दीखने वाले रूपों में सावधान हो कर राग-द्वेष के त्याग करने का वर्णन है। छठे अध्ययन में परक्रियात्याग अर्थात् तपस्या में लगे हुये साधु को गृहस्थ आदि के द्वारा की गई सेवा-शुश्रुषा को इच्छा नहीं करने का विधान है। सातवें अध्ययन में साधुओं के लिये परस्पर एक-दूसरे की सेवा करने का वर्णन है। तीसरी चूलिका का नाम भावना है। साधु को अशुभ भावनाओं को छोड़ कर दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप आदि की शुभ भावना करनी चाहिये, एक-एक महाव्रत की पांच-पांच भावनाएं हैं। उन भावनाओं में रमण करने से महाव्रत में दृढ़ता आती है। चौथी चूलिका विमुक्ताध्ययन में वर्णन है कि जो कुछ भी परिग्रह (शिष्य-शिष्या, गच्छ, शास्त्र, स्थान, उपकरण, शरीर, आदि के रूप में) है, उससे भी मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। पांचवी चूलिका में निशीथ नाम का अध्ययन है। उसमें चार चूलिकाओं में बताई गई बातों में जो अतिचार (दोष) लगते हैं उनकी विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लेने-देने का वर्णन है।

**साध्वाचारः खल्वयमष्टादशपदसहस्रपरिपठितः ।**
**सम्यगनुपाल्यमानो रागादीन् मूलतो हन्ति ॥११८॥**

इस तरह अठारह हजार पदों से युक्त और आचारांग सूत्र में वर्णित साध्वाचार का मुनियों द्वारा अच्छी तरह पालन किये जाने पर वह रागादिक दोषों को मूल से उखाड़ डालता है।

**आचाराध्ययनोक्तार्थ-भावनाचरणगुप्तहृदयस्य ।**
**न तदस्ति कालविवरं यत्र क्वचनाभिभवनं स्यात् ॥११९॥**

आचार-अध्ययन (आचारांग सूत्र) में जो बातें (अर्थ) बताई हैं, उनका भावनापूर्वक आचरण करने में जिसका हृदय सुरक्षित (सावधान) है, उस मुनि का किसी समय पराभव (निंदा या तिरस्कार अथवा संयम से पराजय) नहीं हो सकता।

**पंशाचिकमाख्यानं श्रुत्वा गोपायनं च कुलवध्वाः ।**
**संयमयोगैरात्मा निरन्तरं व्यापृतः कार्यः ॥१२०॥**

पिशाच (भूत) की कथा और कुलवधू के रक्षण को सुन कर आत्मा को निरन्तर सयमपालन में उद्यत रखना चाहिये।

किसी व्यापारी ने मन्त्र के प्रभाव से भूत को वश करने की साधना की। साधना से भूत उसके वश में हो गया। उसने कहा मैं तुम्हारा कोई न कोई काम करता रहूंगा; निकम्मा नहीं बैठूंगा। यदि मुझे कोई काम न बताया तो उस समय मैं तुमको मार डालूंगा व्यापारी ने भूत को बात मान ली और उसे घर, दुकान, व्यापार आदि का कार्य बताता गया। भूत बहुत फुर्ती से झटपट सब काम पूर्ण कर डालता था। फिर तुरन्त पूछता--"बोलो, अब कौनसा काम करना है? आज्ञा दीजिए।" व्यापारी क्षणभर के लिये पशोपेश में पड़ गया। फिर तुरन्त ही अपनी कुशल बुद्धि से सोच कर भूत से कहा—'एक बहुत लम्बा बांस लाकर मेरे घर के आंगन में गाड़ दो' भूत ने वैसा ही किया। और फिर पूछने लगा—"अब मैं क्या करूं?" व्यापारी ने कहा-"जब तक मैं दूसरा काम नहीं बताऊं, तब तक इस बांस पर चढ़ो और उतरो बस यही काम करते रहो।"

ऐसा करने पर भूत को निकम्मे रहने का कोई अवसर नहीं मिल सका, इसलिये वह व्यापारी के प्राण न ले सका। इसी तरह

जो संयमी मुनि दिन-रात शास्त्र-विहित क्रियाओं के पालन में तत्पर रहता है, वह कभी भी प्रमाद आदि भूत के वशीभूत नहीं होता। यानी प्रमाद का भूत उसके संयमरूपी प्राण को नष्ट नहीं कर सकता।

दूसरी कथा:—एक रूपलावण्यवती कुलवधू पर किसी दुराचारी मनुष्य की कुदृष्टि पड़ी। वह उस पर अत्यन्त मोहित हो गया और उसने उससे काम-(कामवासना) सेवन की प्रार्थना की कुलवधू आलसी बन कर पड़ी रहती थी, इसलिए उसके मन में ऐसे उटपटांग विचार आया ही करते थे। आज यह निमित्त मिला तो उसने कुविचार को क्रियान्वित करने का मौका देख उस दुराचारी की बात मान ली। यह बात जब सास को मालूम पड़ी तो बहू को घर के पूरे काम में लगा दिया। बेचारी बहू अनेक कामों में दिन-रात जुटी रहती थी। इससे उसे जरा भी सोचने की फुर्सत नहीं मिली। रात को सोने का समय भी बड़ी ही कठिनता से मिलता था। अतः वह उस दुराचारी मनुष्य के सामने स्वीकृत बात को ही भूल गई। इसी तरह जो साधु अपने आचार-पालन में दिनरात लगा रहता है, उसे मुक्ति में बाधक रूप-रस आदि विषयों की बातें नहीं सूझतीं। कभी क्षणभर के लिए पूर्वसंस्कारवश मन में आ भी जाती हैं तो तुरन्त वह आचारपालन में सुलग्न होने से भूल जाता है। अतः इन से दोनों कथाओं को हृदयंगम करके आत्मार्थी साधक को अपनी आत्मा सदैव संयम की प्रवृत्ति में लगाए रखनी चाहिए।

**क्षणविपरिणामधर्मा मर्त्यानामृद्धिसमुदयाः सर्वे ।**
**सर्वे च शोकजनकाः संयोगा विप्रयोगान्ताः ॥१२१॥**

मनुष्यों की समस्त ऋद्धियां (भौतिक समृद्धियां) क्षणिक हैं, क्षणभर में बदलने वाली हैं और सभी संयोगों का अन्त वियोग में होने वाला है। अतः ये सब शोक पैदा करने वाले हैं।

**भोगसुखैः किमनित्यैर्भयबहुलैः कांक्षितैः परायत्तैः ।**

**नित्यमभयमात्मस्थं प्रशमसुखं तत्र यतितव्यम् ॥१२२॥**

ऐसे भोगसुखों से क्या लाभ, जो नाशवान हैं, अनेक भयों से पूर्ण हैं, बार-बार जिनके लिए व्यर्थ इच्छाएँ उठती हैं, किन्तु उनका पाना अपने अधीन नहीं है ? जबकि प्रशम (समता, वैराग्य, शान्ति आदि) से प्राप्त होने वाला सुख नित्य है, भयों से रहित है, अपने अधीन है। इसलिए साधक को इस स्वाधीनसुख के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

**यावत्स्वविषयलिप्सोरक्षसमूहस्य चेष्ट्यते तुष्टौ ।**

**तावत्तस्यैव जये वरतरमशटं कृतो यत्नः ॥१२३॥**

इन्द्रियां हमेशा अपने ही विषयों की प्राप्ति के लिए दौड़ती रहती हैं। उनको सन्तुष्ट करने के लिए जीव जितना भी प्रयत्न करता है उतना ही प्रयत्न अगर कपटरहित होकर उन इन्द्रियों को जीतने के लिये करे तो प्रशमसुख प्राप्त करता है।

**यत्सर्वविषयकांक्षोद्भवं सुखं प्राप्यते सरागेण ।**

**तदनन्तकोटिगुणितं मुधैव लभते विगतरागः ॥१२४॥**

रागी (विषयासक्त) मनुष्य सांसारिक सुख की प्राप्ति के लिए सभी इन्द्रिय-विषयों की प्राप्ति की आकांक्षा करता रहता है। परन्तु वह थोड़ासा सुख भी नहीं पाता। जबकि विरागी (विषय-विरक्त) मनुष्य उससे अनन्तकोटि गुना सुख अनायास ही प्राप्त कर लेता है।

**इष्टवियोगाप्रियसंप्रयोगकांक्षासमुद्भवं दुःखम् ।**

**प्राप्नोति तत्सरागो न संस्पृशति तद्विगतरागः ॥१२५॥**

इष्ट (प्रिय) वस्तु के वियोग और अनिष्ट (अप्रिय) वस्तु के संयोग हो जाने पर सरागी उनकी कांक्षा का दुःख पाता है। परन्तु वीतरागी को उस दुःख का जरा भी स्पर्श नहीं होता।

क्योंकि वीतराग की इष्ट और अनिष्ट में समदृष्टि होती है।

**प्रशमितवेदकषायस्य हास्यरत्यरतिशोकनिभृतस्य।**
**भयकुत्सानिरभिभवस्य यत्सुखं तत्कुतोऽन्येषाम् ॥१२६॥**

जिसने तीन वेद और चार कषाय शान्त कर दिये हैं; हास्य, रति, अरति और शोक से जो अलग है और जिसे न किसी प्रकार भय है, जो न किसी की निंदा में संलग्न होता है; उस आत्मा को जिस (अपूर्व) सुख का अनुभव होता है, वह सुख अन्य (रागी) जीवों को कहां से प्राप्त हो सकता है?

**सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी ध्यानतपोबलयुतोऽप्यनुपशान्तः।**
**तं लभते न गुणं यं प्रशमगुणमुपाश्रितो लभते ॥१२७॥**

सम्यग्दृष्टि (सुश्रद्धावान) तथा ज्ञान, ध्यान और तपोबल से युक्त होने पर भी उपशमरहित साधु उस गुण को प्राप्त नहीं कर कर सकता; जो गुण प्रशमगुण से युक्त साधु प्राप्त कर लेता है।

इसी बात का समर्थन उपाध्याय यशोविजयजी ने किया है—

ज्ञानध्यानतपःशीलसम्यक्त्वसहितोऽप्यहो।
तं नाप्नोति गुणं साधुर्यं प्राप्नोति शमान्वितः॥

ज्ञानसार, शमाष्टक श्लोक ५

श्रीभगवतीसूत्र में कहा है—

किं तिव्वेण तवेण किं च जवेण किं च चरित्तेण।
समयाइ विण मुक्खो न हु हुओ कह वि न हु होइ॥

कितना ही तीव्र तप किया जाय, जप किया जाय तथा चारित्र भी ग्रहण कर लिया जाय, लेकिन समता के बिना न तो किसी का मोक्ष हुआ है, न होता है और न ही होगा।

श्रीमद्भगवद्गीता के पांचवें अध्याय में कहा है—

"इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।"

अर्थात् 'जिसका मन समभाव में स्थिर है, उन्होंने इसी जन्म में संसार को जीत लिया है।' अतः प्रशमसुख की प्राप्ति के लिए उद्यम करना चाहिए।

**नैवास्ति राजराजस्य तत्सुखं नैव देवराजस्य।**
**यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य ॥१२८॥**

लोकव्यापार (लोकैषणा की प्रवृत्ति व दुनियादारी) से रहित साधु को जो इस जन्म में जो साक्षात् सुख मिलता है, वह सुख राजाधिराज चक्रवर्त्ती को भी सुलभ नहीं है और न ही देवराज-इन्द्र को सुलभ है।

चक्रवर्त्ती आदि व्यवहार (बाहर) से सुखी दिखते हैं, परन्तु चारित्र ग्रहण किये बिना वे भी नरक के अधिकारी बनते हैं। इन्द्र को दूसरे बड़े इन्द्र को देख कर उसकी बराबरी करने की लालसा सताती है। मरणकाल नजदीक आने पर उन्हें छह मास पूर्व ही पराभव होने, गर्भस्थिति और दुर्गति आदि का भय सताने लगता है। अतः वही सुख दुःख से परिपूर्ण बन जाता है।

**संत्यज्य लोकचिन्तामात्मपरिज्ञानचिन्तनेऽभिरतः।**
**जितरोषलोभमदनः सुखमास्ते निर्जरः साधुः ॥१२९॥**

सांसारिक (दुनियादारी की) चिन्ता छोड़ कर जो आत्मज्ञान के चिन्तन में लीन रहता है और लोभ (राग), रोष (द्वेष) और काम

को जीत लेता है, वही साधु बुढ़ापे से रहित होकर सुखपूर्वक रहता है।

**या चेह लोकवार्ता शरीरवार्ता तपस्विनां या च।**
**सद्धर्मचरणवार्तानिमित्तकं तद्द्वयमपीष्टम् ॥१३०॥**

तपस्वी साधुओं के सद्धर्मरूप चारित्र (धर्माचरण) के निर्वाह करने में यदि लोकवार्ता और शरीरवार्ता उपकारक (उपयोगी) हो तो वे दोनों इष्ट हैं।

इससे पहले के श्लोक में साधुओं के लिए लोकचिन्ता छोड़ने का निर्देश किया गया है। प्रश्न होता है—यदि साधु लोकचिन्ता छोड़ दें तो वे अपना भरणपोषण कैसे कर सकेंगे? इसके उत्तर में इस श्लोक में कहा गया है—"शरीर को टिकाए रखने के लिए भिक्षा के ३२ दोष वर्ज कर आहारादि प्राप्त करना लोकवार्ता है। यह लोकवार्ता साधुओं, तपस्वियों के शरीर को टिकाए रखने का कारण है। तथा सद्धर्म के आचरण में शरीर को स्थिर (सुदृढ़ व संलग्न) रखने का कारण शरीरवार्ता है। अतः लोकवार्ता और शरीरवार्ता ये दोनों परस्पर धर्माचरणप्रवृत्ति की कारण हैं। इसलिए ये दोनों ही त्याज्य नहीं, अपितु उपादेय होने से आवश्यक हैं। ऐसी लोकवार्ता की उपादेयता का एक दूसरा कारण भी है, जिसे आगे ग्रन्थकार स्वयं बताते हैं—

**लोकः खल्वाधारः सर्वेषां ब्रह्मचारिणां यस्मात्।**
**तस्माल्लोकविरुद्धं धर्मविरुद्धश्च संत्याज्यम् ॥१३१॥**

सभी चारित्रवान पुरुषों के (संयमनिर्वाह के) लिए लोक ही वास्तव में आधाररूप है। अतः लोकविरुद्ध और धर्मविरुद्ध कार्यों को छोड़ देना चाहिये।

**देहो नासाधनको लोकाधीनानि साधनान्यत्थ ।**
**सद्धर्मानुरोधात्तस्माल्लोकोऽभिगमनीयः ॥१३२॥**

संयम की साधना शरीर के बिना नहीं हो सकती, और शरीर भोजनादि बिना टिक नहीं सकता। भोजनादि साधन लोकाधीन (गृहस्थ लोगों पर निर्भर) हैं। इसलिए सद्धर्मपालन के अनुरोधवश ऐसे लोक-चिन्तन (परम्परा से शरीरचिन्तन) का स्वीकार करना चाहिये।

**दोषोऽनुपकारी भवति परो येन येन विद्वेष्टि ।**
**स्वयमपि तद्दोषपदं सदा प्रयत्नेन परिहार्यम् ॥१३३॥**

जिस जिस दोष के कारण दूसरे का अनुपकार (अहित) होता हो और वह (हम पर) द्वेष करता हो, उस-उस दोष के स्थान को (हमें) स्वयमेव हमेशा प्रयत्न करके छोड़ देना चाहिये।

**पिण्डैषणानिरुक्तः कल्प्याकल्प्यस्य यो विधिः सूत्रे ।**
**ग्रहणोपभोगनियतस्य तेन नैवामयभयं स्यात् ॥१३४॥**

पिंडानिर्युक्तिसूत्र में कल्पनीय एवं अकल्पनीय आहारादि पिण्डैषणा के सम्बन्ध में जो विधि बताई है, उसी विधि से जो साधु आहार आदि ग्रहण करता है और उपभोग करता है, उसे कभी रोग का भय नहीं रहता।

**व्रणलेपाक्षोपाङ्गवदसंगयोगभरमात्रयात्रार्थम् ।**
**पन्नग इवाभ्यवहरेदाहारं पुत्रपलवच्च ॥१३५॥**

निराबाध (बेखटके) रूप से निर्दोष संयमप्रवृत्ति की मात्रा (निर्वाह) करने के लिए मुनिराज को घाव पर लेप की तरह, गाड़ी के पहिये में तेल देने की तरह, पुत्र के मांस (भक्षण) की तरह और सर्प

के द्वारा अपने भक्ष्य को निगलने की तरह आहार करना चाहिए। साधु को आहार किस भावना से तथा किस विधि से करना चाहिए, यह बात इस श्लोक में चार उपमाएं दे कर समझाई है—

(१) घाव पर (मरहम का) लेप इतना ही लगाया जाता है, जिससे उसका मवाद निकल सके और घाव भर जाए, इसी तरह साधु भी भूखरूपी घाव को भरने तथा क्षुधापीड़ारूपी मवाद निकालने के लिए इतना और ऐसा ही आहार करे, जितने से और जिससे पेट की क्षुधा शान्त हो जाय।

(२) पहिये की गति को ठीक रखने के लिए उसको धुरी में तेल डाला जाता है। उसी तरह संयम-यात्रा (नित्य क्रिया, स्वाध्याय), भिक्षाटन, विहार आदि चर्या) ठीक रखने के लिए साधु आहार करे।

(३) चिलातीपुत्र के द्वारा मारी गई अपनी पुत्री सुषमा का मांस उसने (पिता ने) और भाई आदि ने केवल अपनी शरीररक्षा के लिए और कोई चारा न देख कर खाया था। स्वाद या आसक्ति से उसे नहीं खाया था। उसी तरह साधु-मुनिराज भी स्वाद से अथवा आसक्ति से आहार न करे; अपि तु केवल शरीररक्षार्थ आहार करे।

(४) सर्प जैसे अपने आहार को तुरन्त सीधे ही मुंह में निगल जाता है, इधर-उधर अगल-बगल में नहीं लगाता और न चबाता है; वैसे ही साधु भी रूखा-सूखा अथवा स्वादिष्ट जैसा भी आहार मिले उसे स्वादलोलुपतावश मुंह में इधर-उधर चला-चला कर या चपचप करके न खाए; किन्तु केवल संयमनिर्वाह के लिए कल्पनीय-ऐषणीय व निर्दोष जैसा भी जो भी आहार मिल जाय उसे स्वादवृत्ति से रहित होकर तुरन्त उदरस्थ कर ले (पेट में डाल ले)।

**गुणवदमूर्छितमनसा, तद्विपरीतमपि चाप्रदुष्टेन।**
**दारूपमधृतिना भवति कल्प्यमस्वाद्यं वा स्वाद्यम् ॥१३६॥**

साधु मुनिराज कल्पनीय आहार स्वादिष्ट, पौष्टिक व सरस मिलने पर मन में मूर्च्छाभाव (आसक्ति) न लाए तथा रूखा-सूखा एवं ठंडा आहार मिलने पर द्वेष न लाए। किन्तु लकड़ी के समान धैर्यवान बन कर समभाव से वह आहार कर ले।

**कालं क्षेत्रं मात्रां स्वात्म्यं द्रव्यगुरुलाघवं स्वबलम्।**
**ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यं भुंक्ते किं भेषजैस्तस्य ॥१३७॥**

जो साधु काल (शर्दी, गर्मी, वर्षा आदि), क्षेत्र (स्थान), मात्रा (प्रमाण) प्रकृति, पदार्थ के भारीपन अथवा हल्केपन (यानी वह पौष्टिक व देर से पचने वाला आहार है या सादा व शीघ्र पचने वाला है) और अपना आत्मबल (अपनी ताकत) जान कर आहार करता है, उसे औषधियों (दवा लेने) की क्या जरूरत है?

यहां साधु के लिये आहार की विधि बताई गई है कि वह गर्मी सर्दी या वर्षाकाल का ध्यान रख कर आहार करे, जिससे वह सरलता से हजम हो सके। वह क्षेत्र (प्रान्त या देश) कैसा है, इसका विचार करके तदनुकूल आहार करे। आहार उतनी मात्रा में ही करे, जितनी भूख हो ताकि वह आहार हजम हो सके। अपने शरीर की प्रकृति के (अमुक ठंडी, गर्म, तीखी चीजें मेरी प्रकृति के अनुकूल हैं या नहीं; इसको देख कर) अनुकूल आहार करे। आहार की पौष्टिकता-अपौष्टिकता व सुपाच्यता-दुष्पाच्यता (भारीपन अथवा हल्कापन) का ध्यान रखे। और अपनी शक्ति को देख कर ही उतनी मात्रा में ही आहार करे, ताकि कोई व्याधि न आए और स्वास्थ्य बना रहे। इन बातों का लक्ष्य रख कर जो साधु भोजन करता है, तो उसे कभी बीमारी नहीं आ सकती और न कभी उसे औषधि लेने की ही आवश्यकता पड़ती है।

**पिण्डः शय्या वस्त्रैषणादि पात्रैषणादि यच्चान्यत् ।**
**कल्प्याकल्प्यं सद्धर्मदेहरक्षानिमित्तोक्तम् ॥१३८॥**

शास्त्र में आहार, शय्या, वस्त्र और पात्र की एषणा (गवैषणा ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा) आदि के रूप में जो भी लेने योग्य और नहीं लेने योग्य का विधान किया है, वह सब (चारित्र) सद्-धर्मरूपी शरीर की रक्षा के निमित्त हैं।

संयम-पालन करने के लिये ही शरीर का पोषण किया जाता है। शरीर-रक्षा होने पर ही संयम की रक्षा हो सकती है। अतः संयम का मूल (कारण) मनुष्य-शरीर है। यद्यपि भिक्षा के दोषों से रहित एषणाशुद्ध वस्तु का लाभ न मिले तो अपवादरूप में अल्प दोषयुक्त वस्तु ग्रहण करने का जो विधान किया गया है, वह केवल चारित्ररक्षा के लिये है।

**कल्प्याकल्प्यविधिज्ञः संविग्नसहायको विनीतात्मा ।**
**दोषमलिनेऽपि लोके प्रविहरति मुनिर्निरुपलेपः ॥१३९॥**

कल्पनीय और अकल्पनीय विधि का जानकार, वैराग्य को सहायकरूप से अपनाने वाला, विनीतात्मा (ज्ञानवान, विनम्र) मुनि दोष से मलिन इस लोक (संसार) में रहते हुए भी रागद्वेष से अलिप्त रह कर विचरता है।

साधु सर्वप्रथम कल्पनीय वस्तुओं से ही शरीर की रक्षा करे, परन्तु अगर कल्पनीय वस्तु न मिले तो अकल्पनीय से भी शरीर रक्षा की जा सकती है, इस विधि को जो भलीभांति जानता है, वह संसारभीरु और संयमी लोगों की गोष्ठी (साधुमण्डली) में रहने वाला विनयी मुनि इस संसार में दोषरहित होकर विचरता है।

**यद्वत्पङ्काधारमपि पङ्कजं नोपलिप्यते तेन ।**
**धर्मोपकरणधृतवपुरपि साधुरलेपकस्तद्वत् ॥१४०॥**

जैसे कीचड़ से पैदा होने वाला कमल कीचड़ के आधार पर टिका रहता है फिर भी वह कीचड़ से लिप्त नहीं, वैसे ही साधु संसाररूपी कीचड़ में जन्म लेता है, उसके पास रहता है, अन्न, जल, वस्त्र, धर्मोपकरण आदि आधार शरीर के लिए लेता रहता है, फिर भी वह संसारिक दोषों से लिप्त नहीं होता।

**यद्वत्तुरगः सत्स्वप्याभरणविभूषणेष्वनभिसक्तः ।**
**तद्वदुपग्रहवानपि न संगमुपयाति निर्ग्रन्थः ॥१४१॥**

जैसे घोड़ा अनेक आभूषण धारण करने पर भी उनमें आसक्त नहीं होता, वैसे ही निर्ग्रन्थमुनि धर्मोपकरण रखते हुए भी उन पर ममत्वभाव नहीं रखते ।

**ग्रन्थः कर्माष्टविधं मिथ्यात्वाविरतिदुष्टयोगाश्च ।**
**तज्जयहेतोरशठं संयतते यः स निर्ग्रन्थः ॥१४२॥**

आठ प्रकार के कर्म, मिथ्यात्व, अविरति और मन-वचन-काया के अशुभ योग ये सब ग्रन्थ हैं। जिसके जरिये जीव बांधा (जकड़ा) जाय उसे ग्रन्थ (गांठ) कहते हैं। इन सब ग्रन्थों (गांठों) पर विजय (छुटकारा) पाने के लिये जो साधक कपटरहित प्रयत्न करता है, वही निर्ग्रन्थ है ।

**यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रहं निग्रहं च दोषाणाम् ।**
**कल्पयति निश्चये यत्तत्कल्प्यमकल्प्यमवशेषम् ॥१४३॥**

जो वास्तव में साधक के ज्ञान, चारित्र और तप के लिये उपकारक (साधक या वर्द्धक) हों और भूख-प्यास, ठंड-गर्मी या

रागद्वेषरूपी दोषों को दूर करे, वही वस्तु कल्प्य अर्थात् साधु के लिये ग्रहण करने योग्य है और जो इससे विपरीत हो, वह सब अकल्प्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य नहीं हैं।

**यत्पुनरुपघातकरं सम्यक्त्वज्ञानशीलयोगानाम् ।**
**तत्कल्प्यमप्यकल्प्यं प्रवचनकुत्साकरं यच्च ॥१४४॥**

जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, और चारित्र के व्यापार का उपघात करता है तथा जिससे जिनशासन की निन्दा होती हो, उसे कल्पनीय होने पर भी अकल्पनीय समझना चाहिये।

**किञ्चिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं स्यात्स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम् ।**
**पिण्डः शय्या वस्त्रं पात्रं वा भेषजाद्यं वा ॥१४५॥**

शुद्ध तथा कल्प्य आहार, शय्या, वस्त्र, पात्र और औषधादि कोई भी वस्तु (कारणवश) अकल्प्य भी हो जाती है और अकल्प्य हो तो भी वह (कारणवश) कल्प्य हो जाती है।

हृष्टपुष्ट, शक्तिशाली संयमी मुनि दूध, दही, घी, आदि पौष्टिक पदार्थों को अधिकमात्रा में अनियमितरूप से ग्रहण करता है तो उसे विकार की ओर मुड़ना पड़ता है। विकार की ओर मुड़ना ही चारित्र-मार्ग में शिथिल होना है। चारित्र की शिथिलता से स्वाध्याय में हीनता आयेगी। स्वाध्यायहीनता से वह साधक ज्ञानरहित बनकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान का उपघात करेगा। तब सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र से भ्रष्ट बना हुआ वह मुनि जिनशासन की महत्ता को बढ़ाने में निर्बल सिद्ध हो जायेगा। इसलिये शासन के संरक्षक मुनि के लिये दूध, दही, घी, आदि कल्प्य होने पर भी अतिमात्रा में लेने पर अकल्प्य घटित हो सकते हैं तथा रोगी, कमजोर, वृद्ध और गीतार्थ मुनि के लिये वे चीजें अकल्प्य होने पर भी कल्प्य हो जाती हैं।

देशं कालं पुरुषमवस्थामुपघातशुद्धपरिणामान् ।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकान्तात्कल्प्यतेऽकल्प्यम् ॥१४६॥

देश, काल, पुरुष, अवस्था, उपघात (उपभोग) और शुद्ध परिणाम को देख कर कोई वस्तु कल्पनीय हो जाती है, कोई अकल्पनीय हो जाती है। एकान्तरूप से कोई भी वस्तु कल्प्य या अकल्प्य नहीं होती।

तच्चिन्त्यं तद्भाष्यं तत्कार्यं भवति सर्वथा यतिना ।
नात्मपरोभयबाधकमिह यत्परतश्च सर्वाद्धम् ॥१४७॥

साधु को उसी का चिन्तन करना चाहिये, वही बोलना चाहिये और वही कार्य करना चाहिए, जो अपने और दूसरे के लिये इस लोक और परलोक में सर्वदा दुःखदायी बाधक न हो।

साधु मुनिराज जो मन में हो, वही वचन से प्रगट करें और उसी के अनुसार कार्य करें, जिससे अपने और दूसरों के कर्म बन्धन न हो।

सर्वार्थेष्विन्द्रियसंगतेषु वैराग्यमार्गविघ्नेषु ।
परिसंख्यानं कार्यं कार्यं परमिच्छता नियतम् ॥१४८॥

मोक्ष के अभिलाषी मुनि को वैराग्य-मार्ग में सर्वथा विघ्नकारी इन्द्रिय-सम्बन्धी समस्त शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श-विषयों के सेवन के बारे में सीमा बांधनी चाहिए और उनकी प्रवृत्ति निश्चित करनी चाहिये।

भावयितव्यमनित्यत्वमशरणत्वं तथैकतान्यत्वे ।
अशुचित्वं संसारः कर्माश्रवसंवरविधिश्च ॥१४९॥

**निर्जरण-लोकविस्तर-धर्मस्वाख्याततत्त्वचिन्ताश्च ।**

**बोधेः सुदुर्लभत्वं च भावना द्वादश विशुद्धाः ॥१५०॥**

(१) अनित्यत्व, (२) अशरणत्व, (३) एकत्व, (४) अन्यत्व, (५) अशुचित्व, (६) संसार, (७) कर्मों के आस्रव, (८) कर्मों के संवर की विधि, (९) निर्जरा, (१०) लोक-स्वरूप, (११) सद्धर्मस्वरूप, और (१२) बोधि(सम्यग्दर्शन की) दुर्लभता इन बारह भावनाओं पर विशुद्ध चिन्तन करना चाहिये।

**इष्टजन-संप्रयोगर्द्धिविषयसुखसम्पदस्तथारोग्यम् ।**

**देहश्च यौवनं जीवितश्च सर्वण्यनित्यानि ॥१५१॥**

प्रियजनों का संयोग, ऋद्धियुक्त विषयसुख, सम्पदा, आरोग्य, शरीर, यौवन और जीवन ये सभी अनित्य हैं। अर्थात् कायम रहने वाले नहीं हैं। इस तरह का चिन्तन करना अनित्यभावना है।

**जन्मजरामरणभयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते ।**

**जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥१५२॥**

आत्मा का कोई भी आधार नहीं है। जन्म, जरा और मृत्यु के भयों से व्याप्त, व्याधि और वेदना से ग्रस्त इस संसार में जीव को जिनेश्वर भगवान् के वचनों के सिवाय और कहीं भी शरण (आधार) नहीं है। ऐसा विचार करना अशरण भावना है। अर्थात् जिनदेव के वचनों के अलावा किसी भी चीज से जन्मजरादि के भयों से शान्ति नहीं मिलती।

**एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभभवार्त्ते ।**

**तस्मादाकालिकहितमेकेनैवात्मना कार्यम् ॥१५३॥**

संसारचक्र में परिभ्रमण करने वाला जीव अकेला ही है, अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही कर्म करता है और अकेला ही कर्मों को भोगता है। और कोई इनमें सहायता नहीं देता। मरने के बाद नरक, देव आदि शुभाशुभ गतियों में जीव अकेला ही जाता है। अतः अकेली आत्मा को ही किसी दूसरे की सहायता ढूंढे बिना अपना त्रैकालिक आत्महित करना चाहिये। ऐसी भावना एकत्वभावना है।

**अन्योऽहं स्वजनात्परिजनाच्च विभवाच्छरीरकाच्चेति।**
**यस्य नियतामतिरियं न बाधते तं हि शोककलिः ॥१५४॥**

मैं अपने स्वजनों (माता-पिता-भाई-बहन-पत्नी-पुत्र आदि) से अलग हूं, परिजनों (नोकर-चाकर, दास-दासी) से अलग हूं, धन-धान्य आदि वैभव से अलग हूं, शरीर से भी मैं (आत्मा) अलग हूं, इस प्रकार जिसकी निश्चय बुद्धि (व्यवसायात्मिका) है, उसे शोक-संताप पीड़ित नहीं करता। इसे अन्यत्वभावना कहते हैं।

**अशुचिकरणसामर्थ्यादाद्युत्तरकारणाशुचित्वाच्च।**
**देहस्याशुचिभावः स्थाने स्थाने भवति चिन्त्यः ॥१५५॥**

यह शरीर माता के रज और पिता के वीर्य से उत्पन्न हुआ है। बाद में माता जो भोजन करती है, उसी भोजन के रस से यह शरीर बनता है। अतः आदिकारण (शरीर निर्माण का प्रारम्भ) भी गन्दा है और उत्तरकारण (बाद का निर्माण) भी गन्दगी से भरा हुआ है। अर्थात् इस शरीर में मल-मूत्र आदि घिनौने पदार्थ भरे हुए हैं। यह किसी भी उपाय से पवित्र होने वाला नहीं है। बल्कि इसमें डाले गए सुगन्धित पदार्थों को भी यह अपवित्र बना देने वाला है।

शरीर में प्रत्येक स्थान पर अशुचिता (गन्दगी) है। (एकमात्र आत्मा ही पवित्र है) इस विचार को अशुचित्व-भावना कहते हैं।

**माता भूत्वा दुहिता भगिनी भर्या च भवति संसारे।**
**व्रजति सुतः पितृतां भ्रातृतां पुनः शत्रुतां चैव ॥१५६॥**

संसारी जीव (एकजन्म में) माता हो कर, दूसरे जन्म में पुत्री, बहन या पत्नी बन जाता है। तथा पुत्र होकर पिता, भाई तथा शत्रु भी हो जाता है।

यह संसारचक्र अनन्तकाल से चल रहा है। जो इस जन्म में माता है, वही जीव दूसरे जन्म में पुत्री हो जाती है; वही पुत्री अगले जन्म में बहन या पत्नी हो जाती है। तथा जो इस जन्म में पुत्र है, वही जन्मान्तर में पिता, भाई अथवा शत्रु भी हो जाता है। संसार का तमाम सुख क्षणभंगुर व इन्द्रजाल के समान है। संसार की इस तरह की अव्यवस्था का हमेशा विचार करना संसारभावना है।

**मिथ्यादृष्टिरविरतः प्रमादवान् यः कषायदण्डरुचिः।**
**तस्य तथास्रवकर्मणि यतेत तन्निग्रहे तस्मात् ॥१५७॥**

जब जीव मिथ्यादृष्टि, अविरति, प्रमाद, कषाय और मन, वचन, काया, के योग (दण्ड) में रुचि रखता है, तब इनसे नये-नये कर्मों का प्रवाह आता रहता है। इसे ही आस्रव कहते हैं। अतः इन आस्रवों से बचना चाहिये; ऐसे विचार आस्रवभावना कहलाते हैं।

**या पुण्यपापयोरग्रहणे वाक्कायमानसी वृत्तिः।**
**सुसमाहितो हितः संवरो वरददेशितश्चिन्त्यः ॥१५८॥**

मन, वचन और काया की जो प्रवृत्ति पुण्य और पाप दोनों ही प्रकार के आस्रवों को नहीं ग्रहण करती, अपितु शुद्धभावों में ही होती

है, तब संवर यानी कर्मों के आस्रव (आगमन) का निरोध, (रुकना) होता है। ऐसे चिन्तन को सर्वज्ञप्रभु ने आत्मा को सुसमाधि में रखने वाली हितकारी संवरभावना कहा है।

आस्रवों को रोकना संवर है। नवीन कर्मबन्ध के कारणों को रोकना या निरोध करना संवर है। श्रीतीर्थंकर भगवान् ने कल्याणकारी उपदेश आस्रवनिरोधरूप संवर (सम्यग्ज्ञान आदि के उपाय से) के लिये दिया है; इस तरह का चिन्तन करना संवरभावना है।

**यद्वद्विशेषणादुर्पाचतोऽपि यत्नेन जीर्यते दोषः ।**
**तद्वत्कर्मोपचितं निर्जरयति संवृतस्तपसा ॥१५९॥**

किसी को अजीर्णदोष बढ़ा हुआ हो तो वह जैसे विशिष्ट लंघन (उपवास आदि) प्रयत्नों से नष्ट हो जाता है; वैसे ही संवर नये कर्मों को रोकता है। किन्तु पहले के बंधे हुए (संचित) कर्मों (दोषों) का क्षय तपस्यारूप निर्जरा से होता है। ऐसे विचार करने को निर्जराभावना कहते हैं।

**लोकस्याधस्तिर्यक्त्वं चिन्तयेदूर्ध्वमपिच बाहल्यम् ।**
**सर्वत्र जन्ममरणे रूपिद्रव्योपयोगांश्च ॥१६०॥**

कमर पर दोनों हाथों को रख कर और पैरों को फैला कर खड़े हुए पुरुष की आकृति के समान यह लोक है। इसमें ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक हैं तथा धर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्य रहे हुये हैं। मैंने इनका उपयोग किया है। ऐसी कोई भी जगह न होगी, जहां मेरा जन्म-मरण न हुआ हो। इस तरह लोकस्वरूप का विस्तारपूर्वक चिन्तन करना लोकविस्तारभावना कहलाती है।

**धर्मोऽयं स्वाख्यातो जगद्धितैर्जिनैर्जितारिगणैः ।**
**येऽत्र रतास्ते संसारसागरं लीलयोत्तीर्णाः ॥१६१॥**

जिसने अतरंग शत्रुओं को जीता है, ऐसे जिनेश्वरपरमात्मा ने जगत के कल्याण के लिए इस चारित्ररूप धर्म का अच्छी तरह कथन किया है। उसमें जो अनुरक्त हैं, वह संसाररूपीसमुद्र को लीलामात्र से (अनायास ही) पार कर सकते हैं। इस प्रकार विचार करना धर्मस्वाख्यातभावना कहलाती है।

**मानुष्यकर्मभूम्यार्यदेशकुलकल्पतायुरूपलब्धौ।**
**श्रद्धाकथकश्रवणेषु सत्स्वपि सुदुर्लभा बोधिः ॥१६२॥**

मनुष्यत्व, कर्मभूमि, आर्यदेश, उत्तमकुल, आरोग्यता और लम्बी आयु प्राप्त होने तथा श्रद्धा, सद्गुरु और शास्त्रश्रवण आदि सामग्री मिलने पर भी सम्यग्बोध होना अतिदुर्लभ है।

संसार में अनन्तकाल से जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता आ रहा है। उसमें मनुष्यजन्म पाना अति कठिन है। मानवजीवन भी मिल गया; परन्तु उसमें भी कर्मभूमि, आर्यदेश, उत्तम कुल, आरोग्यता, शरीर, दीर्घ आयु आदि का पाना अत्यन्त दुर्लभ है। ये सभी साधन मिल गए, फिर भी धर्म पर श्रद्धा होना दुर्लभ है। इसी तरह सद्गुरुसंयोग और शास्त्रश्रवण इत्यादि सामग्री मिलने पर भी सम्यग्ज्ञान (यथार्थज्ञान) पाना बहुत ही मुश्किल है। इस प्रकार की भावना को बोधिदुर्लभभावना कहते हैं।

इस तरह से इन बारह भावनाओं का दिन-प्रतिदिन चिन्तन करना चाहिए। ये भावनाएं रागादिमल का नाश करती हैं।

**तां दुर्लभां भवशतैर्लब्ध्वाऽप्यतिदुर्लभा पुनर्विरतिः।**
**मोहाद्रागात्कापथविलोकनाद् गौरववशाच्च ॥१६३॥**

सैंकड़ों जन्मों (भवों) में दुर्लभ सम्यग्ज्ञान प्राप्त होने पर भी मोह से, राग से, कुमार्ग को देखने से और गौरव के (बड़प्पन के

मोह) वश चारित्र को प्राप्त करना अतिदुर्लभ है।

सैंकड़ों बार मनुष्यजीवन मिल जाता है, परन्तु उसे पा जाने पर भी सम्यग्ज्ञान मिलना दुर्लभ होता है। सम्यग्ज्ञान भी मिल गया, किन्तु इस जीवन को क्षणभंगुर समझता हुआ भी मनुष्य मोह के कारण धनसम्पत्ति पर ममता रखता है। रागवश पत्नी, पुत्र, भाई, बहन को अपना समझता है; दूसरों को विषय-सुख आदि में फंसे देख कर स्वयं भी घरबार, कुटुम्ब-परिवार-विषयसुखों को छोड़ने में हिचकिचाता है। रसनेन्द्रिय के वश प्रिय रसों को छोड़ना नहीं चाहता। अतः उस (वैषयिक) सुख में आसक्त जीव का चारित्र प्राप्त करना अतिदुर्लभ है।

**तत्प्राप्य विरतिरत्नं विरागमार्गविजयो दुरधिगम्यः।**
**इन्द्रियकषावगौरवपरीषहसपत्नविधुरेण ॥१६४॥**

चारित्ररत्न को पाकर भी इन्द्रिय, कषाय, गौरव और परीषह रूपी शत्रुओं से घबरा कर जीव हार खा जाता है। अतः वैराग्य-मार्ग पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है।

जीव वैराग्यपूर्वक चारित्ररूपी रत्न को प्राप्त करता है। परन्तु वह वैराग्य कायम नहीं रहता। उसे इन्द्रिय, कषाय, गौरव और परीषहरूपी शत्रु व्याकुल कर देते हैं। इसलिये वह वैराग्यमार्ग में चढ़ते-चढ़ते रह जाता है। इसीलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि वैराग्य-मार्ग प्राप्त करना अतिकठिन है। अतः उसे जीतने का उपाय आगे बताते हैं :—

**तस्मात् परीषहेन्द्रियगौरवगणनायकान् कषायरिपून्।**
**क्षान्तिबलमार्दवार्जवसन्तोषैः साधयेद्धीरः ॥१६५॥**

परिषह, इन्द्रिय और गौरव के समुदाय के नेता कषायरूपी शत्रु

हैं। अतः धीरवीर साधक क्षान्ति (सहिष्णुता), मृदुता (नम्रता), आर्जव (सरलता) और संतोषरूपीबल से उन कषायों को जीते।

परिषह का समुदाय, इन्द्रिय का समुदाय और गौरव का समुदाय ये तीन समुदाय हैं। इनके नायक कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया, और लोभरूपी (साधना व वैराग्य के) शत्रु हैं। इनको जीतने के लिये क्षमा, मार्दव, आर्जव, और संतोषरूपी चतुरंगिणी सेना सजे अर्थात् क्रोधकषाय को क्षमा (शान्ति) बल से, मानकषाय को मार्दव (नम्रता) बल से, मायाकषाय को आर्जव (सरलता) बल से, लोभकषाय को संतोषबल से जीते।

श्रीदशवैकालिक सूत्र में कषाय को जीतने के यही उपाय बताये हैं:—

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
माया मज्जवभावेण लोभं संतोसओ जिणे॥
आठवां अध्ययन गाथा ३९

इसी तरह योगशास्त्र में भी कहा है :—

क्षांत्या क्रोधो मृदुत्वेन मानो मायाऽऽर्जवेन च।
लोभश्चानीहया जेयाः कषाया इति संग्रहः॥
चतुर्थ प्रकाश २३ वां श्लोक

**संचिन्त्य कषायाणामुदयनिमित्तमुपशान्तिहेतुं च।**
**त्रिकरणशुद्धमपि तयोः परिहारासेवने कार्ये॥१६६॥**

कषाय के (उदय) उत्पन्न होने का निमित्त और उपशान्ति के निमित्तों पर अच्छी तरह से विचार कर मन, वचन और काया की शुद्धि से उस दोनों कारणों का क्रमशः त्याग और सेवन करना चाहिये।

किस निमित्त से कषाय उत्पन्न होते हैं? और किस कारण से

कषाय शान्त हो सकते हैं ? इस पर भलीभांति सोचविचार कर मन, वचन, काया, से कषाय के निमित्त और उपशान्ति के निमित्तों का क्रमशः त्याग और सेवन करना चाहिये।

**सेव्यः क्षान्तिमार्दवमार्जवशौचे च संयमत्यागौ।**
**सत्यतपोब्रह्माकिञ्चन्यानीत्येष धर्मविधिः ॥१६७॥**

क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, संयम, त्याग, सत्य, तप, ब्रह्मचर्य और आकिञ्चन्य इन दशधर्मों का विधान (शास्त्रों में) है। इनका सेवन (आचरण) करना चाहिये।

**धर्मस्य दयामूलं न चाक्षमावान् दयां समादत्ते।**
**तस्माद्यः क्षान्तिपरः स साधयत्युत्तमं धर्मम् ॥१६८॥**

धर्म का मूल दया है। और दया का पालन क्षमावान ही कर सकता है। अतः जो क्षमारूपी धर्म में तत्पर है, वही उत्तमधर्म की साधना कर सकता है।

क्षमा से दया आती है। दया से उत्तमधर्म आता है। अतः क्षमावान ही उत्तम धर्म की आराधना कर सकता है।

**विनयायत्ताश्च गुणाः सर्वे विनयश्च मार्दवायत्तः।**
**यस्मिन् मार्दवमखिलं स सर्वगुणभाक्त्वमाप्नोति १६९॥**

समस्त गुण विनय के आधीन हैं। और विनय मार्दव के आधीन है जिसमें संपूर्ण मार्दवता (मृदुता=कोमलता) है, वही सर्वगुणों का भाजन बनता है।

गुणों का मूल विनय है। विनय उसी को प्राप्त होता है, जो अभिमान को जीतता है। जो विनयी है, उसे ज्ञान मिलता है। ज्ञान का फल चारित्र है। चारित्र से मोक्ष मिलता है और मोक्ष में परम सुख

प्राप्त होता है। अतः वह विनीत आत्मा सर्वगुणसपन्न बन जाता है।

**नानार्जवो विशुध्यति न धर्ममाराधयत्यशुद्धात्मा।**
**धर्माहृते न मोक्षो, मोक्षात्परं सुखं नान्यत् ॥१७०॥**

कुटिलता-रहित सरलता को आर्जव कहते हैं। आर्जव (सरलता) के बिना किसी भी आत्मा की शुद्धि नहीं होती। अशुद्ध आत्मा धर्म की आराधना नहीं कर सकता। धर्म (पालन) के बिना मोक्ष नहीं होता। और मोक्ष के बिना परमसुख नहीं प्राप्त होता अतः सरलता के बिना सुख नहीं मिल सकता।

**यद्द्रव्योपकरणभक्तपानदेहाधिकारकं शौचम्।**
**तद्भवति भावशौचानुपरोधाद्यत्नतः कार्यम् ॥१७१॥**

उपकरण, आहार, पानी और शरीर को लेकर जो द्रव्यशौच (शुद्धि) करना है, वह भी यतना पूर्वक (विवेकपूर्वक) इस ढंग से करना चाहिये; जिससे भावशौच में कोई रुकावट न आए।

शौच दो प्रकार का है--द्रव्यशौच और भावशौच। बाह्य वस्तु को लेकर शुद्ध करना द्रव्यशौच कहलाता है और कषायादि को क्षीण करना भावशौच कहलाता है।खाने-पीने के पात्रों को साफ करना तथा मलमूत्र से लिपटे शरीर को लेप व दुर्गन्ध से रहित करके शुद्ध करना, ये सब द्रव्यशौच हैं। इन शौचों को इस तरह से करना चाहिए कि भावशौच को कोई आंच न आवे। अर्थात् निर्लोभता से, शान्तभावसे और कषायरहित होकर शुभ भावों द्वारा भावशौच करना चाहिये।

**पञ्चास्रवाद्विरमणं पञ्चेन्द्रियनिग्रहश्च कषायजयः।**
**दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः ॥१७२॥**

पांच आस्रवों से विरत होना, पांचों इन्द्रियों का निग्रह करना, चारों कषायों को जीतना, तीन दण्ड (मनदण्ड, वचनदण्ड, और कायादण्ड) की प्रवृत्ति को रोकना, इस प्रकार संयम १७ प्रकार का है।

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पांचों पापों (आस्रवों) का त्याग करना, स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय, इन पांचों इन्द्रियों के विषयों को रोकना, क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषाय जीतना और मन, वचन और काया इन तीनों दण्डों पर नियंत्रण रखना, इस तरह संयम के १७ भेद हैं।

**बान्धवधनेन्द्रियसुखत्यागात्त्यक्तभयविग्रहः साधुः।**
**त्यक्तात्मा निर्ग्रन्थस्त्यक्ताहंकारममकारः ॥१७३॥**

जिसने कुटुम्ब, धन और इन्द्रिय-सुखों का त्याग कर दिया है, जो भय और कलह से दूर है तथा अहंकार, ममकार से मुक्त है, वही त्यागयुक्त साधु निर्ग्रन्थ कहलाता है।

**अविसंवादनयोगः कायमनोवागजिह्मता चैव।**
**सत्यं चतुर्विधं तच्च जिनवरमतेऽस्ति नान्यत्र ॥१७४॥**

पूर्वापर अविरुद्धवचन का उच्चारण करना, और काया, मन, वचन तीनों की प्रवृत्ति में एकता (संवादिता) यानी अकुटिलता धारण करना। इस तरह से सत्य के चार भेद हैं; ऐसा श्रीजिनेश्वर भगवान् के धर्म (शासन) में कहा है। दूसरे धर्मों में ऐसा नहीं कहा है।

श्री ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे में कहा है—"चउव्विहे, सच्चे, पन्नत्ते, तंजहा—नामसच्चे, ठवणसच्चे, दव्वसच्चे, भावसच्चे य"। इसका भावार्थ यह है कि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव

से निरूपण करते हुए सत्य को चार विभागों में व्यवस्थित किया गया है। नाम से जो सत्य है, स्थापना से जो सत्य है, द्रव्य से जो सत्य है वही भावसत्य में चरितार्थ हो जाता है। किसी पदार्थ का कोई नाम देकर उस नाम (संज्ञा) से उसका उल्लेख करना नामसत्य है। उस पदार्थ की आकृति या प्रतीकरूप में स्थापना करके उस पदार्थ को स्थिर करना स्थापनासत्य है। उस पदार्थ की स्थापना के बाद उसमें अंगभूत गुणों का आरोपण करना भी स्थापनासत्य है। भविष्य में आने वाले गुणों का अथवा भूतकाल में रहे हुए गुणों का वर्तमान में आरोप करना, और उसी पदार्थ के रूप में उसका निरूपण करना द्रव्यसत्य है। यथार्थरूप से सब गुणों का समावेश होना भावसत्य है। ऐसा विधान श्रीजिनशासन में ही है, अन्यत्र नहीं।

**अनशनमूनोदरता वृत्तेः संक्षेपणं रसत्यागः।**

**कायक्लेशः संलीनतेति बाह्यं तपः प्रोक्तम् ॥१७५॥**

अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग, कायक्लेश, और संलीनता; इस तरह छह प्रकार का बाह्यतप कहलाता है।

**अनशन**:—शास्त्रोक्त विधि के अनुसार, अशन, पान, खादिम, स्वादिम इन चारों ही प्रकार के आहारों का त्याग करना अनशनतप कहलाता है। वह इत्वरकालिक और यावत्कालिक दो प्रकार का है। अमुक समय के लिए आहार आदि का त्याग करना, इत्वरकालिक अनशन तप कहलाता है। और जब तक जीए तब तक के लिए (जीवनभर) आहार आदि का त्याग करना यावत्कालिक अनशन तप कहलाता है। इसके भक्तप्रत्याख्यान, इंगीतमरण और पादपोपगमन तीन भेद हैं।

**ऊनोदरी**:—पुरुष के आहार का प्रमाण बत्तीस ग्रास और स्त्री

के अठाईस ग्रास माने गये हैं। उसमें संक्षेप करना यानी कमी करना ऊनोदरी तप कहलाता है। ऊनोदरी तप निरन्तर महाफल देने वाला है। ऊनोदरी से स्वाध्याय में मन लगता है, शरीर निरोग रहता है, ब्रह्मचर्यव्रत का निर्मलरूप से पालन होता है, ध्यानयोग की की साधना में प्रगति होती है, सतत आध्यात्मिक उन्नति होती है। अल्पाहार, अपार्धा, द्विभागा, प्राप्ता और किंचिदूना ये पांच ऊनोदरी तप के भेद हैं।

**वृत्तिसंक्षेप**:—जिससे जीवन टिक सके, उसे वृत्ति कहते हैं। इसमें भोजन और जल आदि वस्तुओं का समावेश होता है। इस वृत्ति में द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव से संक्षेप यानी संकोच करना वृत्तिसंक्षेप कहलाता है। इसमें अभिग्रह का भी समावेश हो जाता है। अमुक प्रकार की निर्दोष भिक्षा मिले तो ही ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं लूंगा; इस प्रकार मन में संकल्प (अभिग्रह) करना द्रव्यसंक्षेप है। एक या दो या अमुक स्थान से जो भी जितनी भी भिक्षा मिलेगी उसे ही ग्रहण करूंगा, अन्य (संकल्प के उपरांत) स्थानों से नहीं लूंगा, इस प्रकार का तप क्षेत्रसंक्षेप है। प्रथम, द्वितीय या तृतीय प्रहर आदि नियत काल तक भिक्षा मिलेगी तो ही ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं; इस प्रकार का तप कालसंक्षेप है और अमुक अवस्था में रहा हुआ आदमी भिक्षा दे तभी लूंगा, अन्यथा नहीं; यह भावसंक्षेप है। प्रभु महावीर ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप वृत्तिसंक्षेप से घोर अभिग्रह किया था। जो पांच महीनों और पच्चीस दिन के बाद कौशांबी नगरी में चन्दनबाला के निमित्त से पूर्ण हुआ था।

**रसत्याग**—जो शरीर के धातु आदि को पुष्ट करे उसे रस कहते हैं। रस को शास्त्रीय भाषा में विगइ अथवा विकृति कहते हैं। इसमें दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और पक्वान्न (मिठाई) की

गणना होती है। इन रसों का त्याग करना रसत्याग कहलाता है। अथवा रस अर्थात् स्वाद का त्याग (खाद्य पदार्थों में)करना यानी निवी (निर्विकृतिक) आयंबिल आदि तप, जिसमें विगइ या नमकमीर्च आदि से रहित आहार किया जाता है, रसत्याग कहलाता है। मोक्षार्थी साधक को कममात्रा में तथा गुरुदेव की आज्ञानुसार विधिपूर्वक ही रसों का उपयोग करना चाहिए।

**कायक्लेश**—आगमोक्त विधि के अनुसार तितिक्षाबुद्धि से वीरासन, वज्रासन आदि आसनों द्वारा शरीर को कसना, नंगे पैर चलना, लोच करवाना, कार्योत्सर्ग करना, परिषह और उपसर्ग को सहन करना और (धर्मपालन के लिए या धर्म पर दृढ रहने के लिए) शरीर को कष्ट देना, कायक्लेश तप कहलाता है। काया के निरोध से साधक को दूसरे पर दयाभाव पैदा होता है।

**संलीनता**—संवर करना अथवा अपने अंगोपांगों को सिकोड़ना-संकोच करना संलीनता है। इसके चार भेद हैं-- (१) अप्रशान्त (बेलगाम) रूप से प्रवर्तित होती हुई इन्द्रियों को उनके विषयों से तुरन्त हटा लेना, रोक लेना या दबा देना इन्द्रिय-संलीनता तप है। (२) क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय को उदय नहीं होने देना और उदय में आये हुए कषाय को क्षमा आदि से निष्फल करना कषायसंलीनता तप है। (३) मन, वचन और काया को अशुभ परिणाम के व्यापार से रोकना और शुभ योग की उदारणा करना योगसंलीनता तप है। (४) स्त्री, पशु तथा नपुंसक आदि संसर्ग वाले स्थान को छोड़ कर बाग, जंगल, शून्य घर, देवकुल, पर्वत की गुफा आदि एकान्त शुभस्थान में रहना विविक्तचर्या-संलीनता तप है।

उपर्युक्त छह प्रकार का तप बाह्यतप है। क्योंकि संसार के स्थूलदृष्टि वाले लोग भी इस तप से परिचित हैं और यह तप

लोक में बाह्यरूप से प्रगट रूप में दिखाई देता है; अतः इसे बाह्य-तप कहा है।

**प्रायश्चित्तचध्याने वैयावृत्यविनयावथोत्सर्गः ।**

**स्वाध्याय इति तपः षट्प्रकारमाभ्यन्तरंभवति ॥१७६॥**

प्रायश्चित्त, ध्यान, वैयावृत्य, विनय, कायोत्सर्ग और स्वाध्याय इस तरह आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं।

**प्रायश्चित्त**—जो अपराध (पाप-दोष) हो गये हों, उन्हें यथार्थरूप में गुरुमहाराज के या बड़ों के सामने प्रगट (आलोचना) करके उस पाप की शुद्धि के लिये वे जो भी कुछ तपजप आदि बतलावें, उसे करना प्रायश्चित्त तप कहलाता है। इसके आलोचनार्ह आदि १० भेद हैं।

**ध्यान**—किसी एक विषय में अधिक समय तक चित्त का एकाग्र होना ध्यान कहलाता है। इसके चार भेद हैं,—आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान।

आर्त्तध्यान के चार भेद हैं :—(१) प्रिय पदार्थ और प्रिय सम्बन्धी का वियोग होने पर उसके लिये चिन्ता करना, इष्टवियोग आर्त्तध्यान है; (२) अप्रिय वस्तु और अप्रिय सम्बन्धी का संयोग होने पर, उसके लिये चिन्ता करना अनिष्टसंयोग आर्त्तध्यान कहलाता है। (३) शरीर में कोई रोग आदि आने पर उसकी चिन्ता करना रोगचिन्ता-आर्त्तध्यान है। (४) मैंने इस जन्म में इतना दान, पुण्य या तप किया है, इसका दूसरे जन्म में अच्छा फल मिलेगा या नहीं ? इस तरह भविष्य में सुखप्राप्ति की चिन्ता करना अप्रशोच-आर्त्तध्यान है।

रौद्रध्यान के भी चार भेद है :— १) द्वेषवश किसी जीव को मारने या कष्ट पहुंचाने का, क्रूर विचार करना, हिंसानुबंधि रौद्र-ध्यान है। (२) झूठ बोलने की तीव्र इच्छा करना, या झूठी बात को सच्ची सिद्ध करने का उपाय सोचना, छल, कपट, दम्भ, धोखा-देही आदि किसी भी प्रकार के असत्याचरण का विचार करना, या असत्य को सत्य सिद्ध करके अत्यन्त आनन्द मनाना मृषानुबंधि-रौद्रध्यान है। (३) छल, कपट, बेईमानी या जालसाजी करके दूसरे का सर्वस्व धनमाल छीनने या हड़प लेने का विचार करना, चौर्यानुबंधि रौद्रध्यान है। और (४) मेरे हिस्सेदार या मेरे कुटुम्बी मर जायें तो मैं अकेला ही सारी सम्पत्ति का मालिक बन जाऊंगा, ऐसा चिन्तन करने को परिग्रहानुबंधि रौद्रध्यान है। ये दोनों ही ध्यान त्याज्य हैं।

धर्मध्यान के चार भेद हैं। (१) दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि की भावना करना अथवा श्रीसर्वज्ञ परमात्मा की आज्ञाएं या उनके वचन सत्य हैं; इस तरह की श्रद्धा से युक्त चिन्तन करना, आज्ञा-विचय धर्मध्यान है। (२) रागद्वेष काम, क्रोध, मोह, आदि इस लोक और परलोक में भी दुःखी करने वाले तथा अनेक संकट पैदा करने वाले हैं; ऐसा विचार करना अपायविचय-धर्मध्यान कहलाता है। (३) सुख-दुःख होने पर हर्ष-शोक न करके ये पूर्व-जन्म के ही विपाक (फल) हैं, ऐसा चिन्तन करना; विपाकविचय-धर्मध्यान कहलाता है। (४) चौदह रज्जू प्रमाण लोक में रहे हुए समस्त जीवाजीवादि पदार्थों की स्थिति, गति, आगति आदि स्वरूप का विचार करना संस्थानविचय धर्मध्यान कहलाता है।

जिस ध्यान में सिर्फ आत्मतत्व या परमात्मतत्व या आत्मा के निज गुणों का ही या आत्मस्वरूप के ही चिन्तन होता हो, वह शुक्लध्यान कहलाता है। शुक्लध्यान के भी चार भेद होते हैं:—

(१) पृथक्त्ववितर्क—पृथक्त्व का अर्थ है भिन्नता। यानी द्रव्य की गुणपर्यायों से भिन्नता और वितर्क का अर्थ है—अपनी आत्मा के शुद्धस्वरूप के अनुभवरूप भावों में अवगाहन करना। यानी गुणपर्यायों से आत्मद्रव्य को पृथक् समझ कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप में रमण करना श्रुतपृथक्त्ववितर्क कहलाता है। और मन, वचन और काया के योगों में से एक योग ग्रहण कर दूसरे में (आत्मद्रव्य को केन्द्र में रख कर) संक्रमण करने का विचार करना चारित्रपृथत्ववितर्क है।

(२) एकत्ववितर्कविचार—वायुरहित दीपक की तरह निश्चल हो कर एक ही आत्मद्रव्य में विचारों को एकाग्र करना या आत्मा के विकाररहित सुख के अनुभवरूप पर्याय में भावश्रुतबल से स्थिर होकर द्रव्य, गुण और पर्याय का विचार करना।

(३) सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति—केवलज्ञानी भगवान् का जब मोक्ष-गमनकाल नजदीक आता है; तब मनयोग और वचनयोग का सम्पर्ण निरोध हो जाता है, किन्तु काययोग का संपूर्ण निरोध नहीं होने से श्वासोच्छवास की सूक्ष्मक्रिया चालू रहती है। उस समय के ध्यान को सूक्ष्मक्रियाअनिवृत्ति कहते हैं।

(४) व्युच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाती—चौदह गुणस्थानक में शैलेशी अवस्था में सूक्ष्मक्रिया का भी नाश हो जाता है और वहां से फिर ध्यान से कभी च्युत नहीं होने वाला अनन्तज्ञान, अनन्तसुख का एक-रस अनुभव होता रहता है। उस अवस्था को व्युच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाती शुक्लध्यान कहते हैं।

शुक्लध्यान का विषय बहुत ही गहन और अनुभवगम्य है।

**वैयावृत्य**:—(१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) स्थविर (४) तपस्वी (५) ग्लान (रुग्ण) (६) शैक्षक (नवदीक्षित) साधर्मिक (८) कुल (९) गण और (१०) संघ इन दस प्रकार के साधुओं की

अन्न, जल, वस्त्र और रहने के लिये जगह आदि देना, सेवाशुश्रूषा करना वयावृत्य है। भरत-बाहुबलि दोनों ने पूर्वभव में उत्तम साधुओं की वैयावृत्य की थी; जिसके कारण वे अपनी आत्मोन्नति के साधक बने।

**विनय** :—इसके चार भेद हैं। ज्ञान (ज्ञानवृद्धि के साधन-आगम आदि तथा ज्ञानवान पुरुषों) का विनय करना, दर्शन (श्रद्धा पैदा करने वाले, श्रद्धा में वृद्धि करने वाले देव, गुरु धर्म का व मंदिर जिनप्रतिमा आदि) का विनय करना, चारित्र—(अहिंसा-सत्यादि चारित्रगुणों तथा चरित्रवानों) का विनय करना और उपचार-गुरुदेव या दीक्षावृद्ध मुनियों को देख कर खड़ा होना, उन्हें बैठने के लिये आसन देना, हाथ जोड़ कर खड़े रहना, उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करना, उनके पर धोना, पैर दबाना, सेवा करना आदि उपचारविनय कहलाता है।

**कायोत्सर्ग** :—ध्यान तो वाणी और मन से ही होता है। परन्तु कायोत्सर्ग में तो काया को भी नियंत्रित (काबू) करना पड़ता है। ध्यान से कायोत्सर्ग का फल महान् है। कायोत्सर्ग के १६ दोषों को वर्ज कर निश्चल, सीधे खड़े होकर काया और काया से सम्बन्धित जड़चेतन पदार्थों पर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग कहलाता है। इस दृष्टि से कायोत्सर्ग के ४ भेद होते हैं—

(१) गणोत्सर्ग-गच्छ का त्याग करके जिनकल्प आदि अवस्था का स्वीकार करना, (२) कायोत्सर्ग—पादपोपगमन आदि अनशनव्रत स्वीकार करना, किसी भी प्रकार का उपसर्ग, (संकट) या परिषह (कष्ट) पैदा होने पर काया पर से ममत्व छोड़ देना। (३) उपाधि-उत्सर्ग-जिस-जिस कल्प की जो समाचारी हो तदनुसार उपधि (संयमसाधना के लिये ग्रहण किये हुए भंडोपकरणों) का त्याग करना, (४) अशुद्धभक्तपानोत्सर्ग-अधिक और

अशुद्ध आहार-पानी भिक्षा में आ गया हो तो उसका त्याग (परिष्ठापन) करना।

**स्वाध्यायः**—यह पांच प्रकार है। (१) वाचना—गुरु या बड़ों से विधिपूर्वक सूत्र और अर्थ का ग्रहण करना या अभ्यास करना (२) पृच्छना—शास्त्र के अर्थ या किसी विषय में सन्देह होने पर गुरु या शास्त्रविदों से पूछना (३) परावर्तना—पढ़े हुये सूत्रादि भूल न जाएं, इसलिये बार-बार आवृत्ति करना या दोहराना (४)अनुप्रेक्षा-सूत्रार्थ का मुख से उच्चारण किये बिना ही मन से उस पर चिन्तन करना। अनुप्रेक्षा में अस्वाध्यायकाल वर्जित नहीं गिना जाता। और (५) धर्मकथा—धर्म का उपदेश करना या सूत्र पर व्याख्यान करना।

इस तरह आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं। ये छहों तप आत्मा के गुणों की सीधी घात करने वाले आभ्यन्तरिक कर्मों को तपाने नष्ट करने) वाले हैं, इसलिये आभ्यन्तर तप कहलाते हैं।

**दिव्यात्कामरतिसुखात् त्रिविधं त्रिविधेन विरतिरिति नवकम्।**
**औदारिकादपि तथा तद् ब्रह्माष्टादशविकल्पम् ॥१७७॥**

देवतासम्बन्धी कामरति (मैथुन)-सुखों से तीन योग मन, वचन और काया) पूर्वक तीन करण (करना,कराना और अनुमोदन) से विरत होना; इसी प्रकार औदारिक शरीर-(मनुष्यतिर्यञ्चशरीर) सम्बन्धी कामरति (मैथुन)-सुखों से भी त्रियोगपूर्वक त्रिकरण से विरत होना। यों क्रमशः नौ और नौ अठारह भेद ब्रह्मचर्य के होते हैं।

**अन्यात्मविदो मूर्च्छां परिग्रहं वर्णयन्ति निश्चयतः**
**तस्माद्वैराग्येऽसौराकिञ्चन्यं परो धर्मः ॥१७८॥**

अध्यात्मज्ञानी वास्तव में मूर्च्छा को ही परिग्रह कहते हैं। (वस्तु को नहीं)। अतः जो वैराग्य का इच्छुक है, उसके लिए आकिञ्चन्य (किसी भी सांसारिक पदार्थ की अपेक्षा न रखना, किसी वस्तु की मन में चाह न होना तथा पास में जो (संयमपालन के लिए उपयोगी) वस्तुएं हैं, उन पर भी ममता-मूर्च्छा न होना; किसी पदार्थ की वासना (सूक्ष्म इच्छा) भी मन में न होना; इस प्रकार की निःस्पृहता) ही परम धर्म है।

सामान्य व्यक्तियों की प्रायः संसार के पदार्थों पर मूर्च्छा रहती है। उन पदार्थों में कोई परिवर्तन नहीं आता। सिर्फ जीवों की मूर्च्छा से विविध कल्पनाएं होती रहती हैं, जो प्रायः सुख-दुःख पैदा करती हैं। अथवा यह पदार्थ सुखदायक है, यह दुःखदायक है, ऐसी कल्पनाएं होती रहती हैं। उन पदार्थों पर ममत्वभाव रखना ही मूर्च्छा का स्वरूप है। इससे पर होना अर्थात् पदार्थों का मूर्च्छा-आसक्ति से दूर रहना ही अपग्रहभाव है।

जिसकी बुद्धि मूर्च्छा से आच्छादित है, उसके लिए सारा जगत् परिग्रहरूप है और जिसकी बुद्धि से मूर्च्छा नष्ट हो गई, उसके लिए सारा जगत् अपरिग्रहरूप है।

**दशविधधर्मानुष्ठायिनः सदा रागद्वेषमोहानाम्।**

**दृढरूढघनानामपि भवत्युपशमोऽल्पकालेन ॥१७९॥**

पूर्वोक्त क्षमा आदि दशविध धर्मों का जो सदा पालन करते हैं; उन साधकों के चिरकाल से संचित किये हुए मजबूत गाढ़ और जड़ जमाए हुए घने राग, द्वेष और मोहों का अल्पसमय में ही उपशम (शान्त) हो जाता है।

**ममकाराहंकारत्यागादतिदुर्जयोद्धतप्रबलान्।**

**हन्ति परीषहगौरवकषायदण्डेन्द्रियव्यूहान् ॥१८०॥**

जो ममकार (माया-लोभ) और अहंकार (मान-क्रोध) का त्याग करता है, वह अतिदुर्जय उद्धत बलवान परिषहों, गौरवों, कषायों तथा मन, वचन और काया के दण्डों और इन्द्रियों के (विषयजालरूप) चक्रव्यूहों (दावपेचों) को खत्म कर देता है।

**प्रवचनभक्तिः श्रुतसम्पदुद्यमो व्यतिकरश्च संविग्नैः ।**
**वैराग्यमार्ग-सद्भावभावधीस्थैर्यजनकानि ॥१८१॥**

प्रवचन (जिनशासन) पर भक्ति रखना, श्रुतज्ञानरूपी सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए उद्यम करना और गीतार्थ (छेदसूत्रों के ज्ञाता) मुनि का सम्पर्क करना, ये तीनों वैराग्यमार्ग के शुद्ध भावों में बुद्धि को उत्पन्न करने और स्थिर रखने के कारण हैं।

**आक्षेपणी-विक्षेपणी-विमार्गबाधनसमर्थवित्र्यासा ।**
**श्रोतृजनश्रोत्रमनःप्रसादजननी यथा जननी ॥१८२॥**
**संवेदनीं च निर्वेदनीं च धर्म्यां कथां सदा कुर्यात् ।**
**स्त्रीभक्तचौरजनपदकथाश्च दूरात्परित्याज्याः ॥१८३॥**

उन्मार्ग का उच्छेद करने में समर्थ वाक्यरचना वाली और श्रोताजनों के कानों और मन को माता की तरह प्रसन्न करने वाली आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी (इन चारों प्रकार की) धर्मकथाओं को ही सदा करना चाहिए। और स्त्रीविकथा, भक्तविकथा, चौरविकथा व देशविकथा को सदा दूर से ही तिलाञ्जलि देनी चाहिए।

जो कथा आत्मा को धर्म की ओर अभिमुख करे, उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। जो कथा आत्मा को कामभोग से विमुख करे उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं। जो कथा आत्मा को संसार से भयभीत करे उसे संवेदनी कथा कहते हैं। और जो कामभोगों से विरक्ति पैदा करे, उनसे छुड़ा दे; उसे निर्वेदनी कथा कहते हैं। ये चारों कथाएं धर्मयुक्त होने से धर्मकथाएं हैं; ये कथाएं करनी चाहिए।

क्योंकि ये कथाएं कुमार्ग का नाश करती हैं और मुक्तिरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करने की साधना (आराधना) कराती हैं। जिस तरह माता हितकर उपदेश देकर अपनी सन्तान के कान और मन को प्रसन्न करती है, उसी तरह ये कथाएं भी सुनने वालों के कान और मन को आनन्दित करती हैं। अतः ये कथाएं हमेशा करनी चाहिए।

चार विकथाएं:—स्त्रियों के रूप, सुन्दरता, यौवन, वेशभूषा अंग-विन्यास, हावभाव और चालढाल आदि की बातें करना स्त्री-विकथा कहलाती है। खाने-पीने के पदार्थों की प्रशंसा-निंदा आदि के रूप में चर्चा करते रहना भक्तविकथा है। चोर इसी तरह ठगता है, यों ताले तोड़ता है, इत्यादि चर्चा करना चोरविकथा है। और देहरादून के चावल, पंजाब के गेहूं, मारवाड़ का घी, अच्छा होता है परन्तु दूसरे देश का अच्छा नहीं होता, इस तरह की बातें करना, देशविकथा कहलाता है। इन विकथाओं से मन में राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। अतः इन विकथाओं का त्याग करना चाहिए।

**यावत्परगुणदोषपरिकीर्तने व्यापृतं मनो भवति।**
**तावद्वरं विशुद्धे ध्याने व्यग्रं मनः कर्तुम् ॥१८४॥**

जितने समय तक दूसरों के गुणदोषों की चर्चा में मन लगता है, अच्छा हो कि उतने समय तक उस व्यग्र मन को विशुद्ध ध्यान (धर्म-शुक्लध्यान) में लगा दें।

क्योंकि दूसरों के गुणों और दोषों को देखने और कहने में राग-द्वेष पैदा होंगे और उनसे फिर कर्मों का बन्धन होगा। इसकी अपेक्षा अध्यात्मसाधक को अपना मन निर्मल धर्मध्यान या शुक्ल-ध्यान (अथवा प्रभुध्यान में) लगाना श्रेष्ठ है। इससे कर्मों की निर्जरा होगी।

**शास्त्राध्ययने चाध्यापने च संचिन्तने तथात्मनि च।**
**धर्मकथने च सततं यत्नः सर्वात्मना कार्यः ॥१८५॥**

अतः आत्मार्थी साधक को शास्त्रों का अध्ययन करने में, दूसरों को पढ़ाने में, तथा तदनुसार आत्मचिन्तन में और धर्मोपदेश (धर्म-युक्त बातें करने, में सभी प्रकार से सतत प्रयत्न करना चाहिए।

ये सभी कार्य विशुद्धध्यान के परिचायक हैं।

**शास्विति वाग्विधिविद्भिर्धातुः पापठ्यतेऽनुशिष्ट्यर्थः ।**

**त्रैङ्इति च पालनार्थे विनिश्चितः सर्वशब्दविदाम् ॥१८६॥**

व्याकरणशास्त्रवेत्ताओं ने 'शास्' धातु को 'अनुशासन' अर्थ में कहा है और त्रैङ् धातु को सभी शब्दवेत्ताओं ने 'पालन' अर्थ में निश्चित किया है।

**यस्याद्रागद्वेषोद्धतचित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे ।**

**संत्रायते च दुःखाच्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भिः ॥१८७॥**

चूंकि जिसका मन राग-द्वेष से उद्धत है, उस जीव को यह सद्धर्म में अच्छी तरह से अनुशासित (शिक्षित) करता है और दुःख से सम्यक् प्रकार से बचाता है; इसीलिये सत्पुरुष इसे 'शास्त्र' कहते हैं।

**शासनसामर्थ्येन तु संत्राणबलेन चानवद्येन ।**

**युक्तं यत्तच्छास्त्रं तच्चैतत्सर्वविद्वचनम् ॥१८८॥**

जो अनुशासन करने में सामर्थ्य से और निर्दोष रक्षणबल से युक्त हो, उसे शास्त्र कहते हैं। वही शास्त्र सर्वज्ञवचन हैं। इसी शास्त्र शब्द की ऐसी हो व्याख्या उपाध्याय यशोविजयजी ने ज्ञानसागर शास्त्राष्टक में की है। वह निम्नोक्त प्रकार से है —

**शासनात् त्राणशक्तेश्च, बुधैः शास्त्रं निरुच्यते ।**
**वचनं वीतरागस्य तत्तु नान्यस्य कस्यचित् ।।१८६।।**

शास्त्र शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ दो शब्दों की निरुक्ति द्वारा किया गया है। शास से शिक्षा और त्र से त्राण (रक्षण) अर्थ ध्वनित होने से विद्वान पुरुष इसे 'शास्त्र' कहते हैं। मतलब यह है कि मोक्षमार्ग की यथार्थ शिक्षा देने तथा भव्यजनों को इस संसार के दुःखों से बचाने वाला होने से शास्त्र अन्वर्थक है। यानी अपना शास्त्र नाम सार्थक सिद्ध करता है और वास्तव में इस तरह का शास्त्र केवल सर्वगुणसम्पन्न वीतरागकथित वचन ही हो सकता है। अन्य कोई भी वचन शास्त्र कहलाने योग्य नहीं सिद्ध होता।

**जीवाजीवाः पुण्यं पापास्रवसंवराः सनिर्जरणाः**
**बन्धो मोक्षश्चैते सम्यक् चिन्त्या नव पदार्थाः।।१८१।।**

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नव पदार्थ हैं। इनका अच्छी तरह से चिन्तन करना चाहिए।

(१) जिसमें ज्ञान हो उसे जीव कहते हैं। (२) जिसमें ज्ञान न हो उसे अजीव कहते हैं। (३) जिस कर्म से जीव सुख पाता है, उस कर्म का नाम पुण्य है। (४) जिस कर्म से दुःख पाता है, उस कर्म का नाम पाप है। (५) आत्मा से सम्बन्ध करने के लिए जिसके द्वारा कर्मयोग्य पुद्गल आते हैं, उसे आस्रव कहते हैं। (६) आत्मा से कर्मपुद्गलद्रव्य का सम्बन्ध होना जिसके द्वारा रुक जाय उसे संवर कहते हैं। (७) आत्मा में लगे हुए कर्म जिसके द्वारा आत्मा से अलग हो जाएं उसे निर्जरा कहते हैं। (८) दूध और पानी की तरह आत्मा और कर्मपुद्गलद्रव्यों का आपस में एकमेक होकर मिलना बन्ध कहलाता है और (९) समस्त कर्मों का सम्पूर्णरूप से आत्मा से

अलग हो जाना मोक्ष कहलाता है। इस तरह नौ पदार्थों का अच्छी तरह चिन्तन-मनन करना चाहिए।

**जीवा मुक्ताः संसारिणश्च संसारिणस्त्वनेकविधाः।**
**लक्षणतो विज्ञेया द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-षड्-भेदाः ॥१९०॥**

मुख्यतया जीव के दो भेद हैं :—मुक्तजीव और संसारी जीव। इसमें संसारी-जीव के दो, तीन, चार, पांच और छह भेद के रूप में अनेक भेद होते हैं। यह स्वयं ग्रन्थकार बताते हैं:—

**द्विविधाश्चराचराख्यास्त्रिविधाः स्त्रीपुंनपुंसका ज्ञेयाः।**
**नारकतिर्यग्मानुषदेवाश्चतुर्विधाः प्रोक्ताः ॥१९१॥**

संसारी जीव चर (त्रस) और अचर (स्थावर) के भेद से दो प्रकार के हैं। स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद के भेद से तीन प्रकार के और नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति के भेद से चार प्रकार के होते हैं।

**पञ्चविधास्त्वेक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चेन्द्रियाश्च निर्दिष्टाः।**
**क्षित्यम्बुवह्निपवनतरवस्त्रसाश्च षड्भेदाः ॥१९२॥**

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय, ये संसारी जीव के पांच भेद हैं। और पृथ्वीकाय, अप (जल) काय, तेउ (अग्निकाय), वायुकाय, वनस्पतिकाय, और त्रसकाय; यों छह भेद है।

एकेन्द्रिय जीव वे हैं, जिनके केवल शरीर हो। जैसे-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और वनस्पति के जीव। द्वीन्द्रिय जीव वे हैं, जिनके केवल शरीर और जीभ हो। जैसे—केंचुआ, जोंक, शंख, सीप आदि जीव। त्रीन्द्रिय जीव वे हैं, जिनके केवल शरीर, जीभ और नाक

हो। जैसे, चींटी, खटमल, जूं, इन्द्रगोप (बरसाती लाल रंग के कीड़े) आदि। चतुरिन्द्रिय जीव वे हैं, जिनके केवल शरीर, जीभ, नाक और आंख हो। जैसे बिच्छू, भौंरा, मक्खी, मच्छर आदि जीव। पञ्चेन्द्रिय जीव वे हैं, जिनके शरीर, जीभ, नाक, आंख और कान हों। जैसे देव, नारक, मनुष्य, पशु, पक्षी (तिर्यञ्च) आदि जीव।

काय का अर्थ शरीर है। जिसका शरीर पृथ्वी का ही हो वह पृथ्वीकाय है। जिसका शरीर केवल जलमय हो, वह जलकाय (अप्काय) है। जिसका शरीर केवल अग्नि का हो, वह अग्निकाय (तेजस्काय) है। जिसका शरीर वायु का हो, वह वायुकाय है। और शाक, भाजी, फल-फूल आदि वनस्पति का ही जिनका शरीर हो, वह वनस्पतिकाय है और सर्दी और गरमी से बचने के लिये जो जीव स्वतन्त्ररूप से चल-फिर सकें, वे त्रसकाय के जीव कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय से लगाकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीव त्रसकाय के जीव कहलाते हैं।

**एवमनेकविधानामेकैकोविधिरनन्तपर्यायः ।**
**प्रोक्तः स्थित्यवगाहज्ञानदर्शनादिपर्यायैः ॥१६३॥**

इस तरह स्थिति, अवगाहना, ज्ञान, दर्शन आदि पर्यायों को ले कर ससारी जीव के अनेक भेद होते हैं और उन अनेकविध-जीवों में भी एक-एक जीव के अनन्त पर्याय होते हैं, इसलिये अनन्त भेद हो जाते हैं।

प्रथम तो संसारी जीव के अनेक भेद हैं। फिर स्थिति, अवगाहना, ज्ञान और दर्शन आदि पर्यायों के भेद से अनन्त भेद हो जाते हैं। जीव के एक शरीर में टिकने के नियत काल

को स्थिति कहते हैं। समुच्चयरूप से कहें तो जीव की स्थिति एक भव में एक अन्तर्मुहूर्त से लेकर ३३ सागरोपम तक की होती है।

अतः स्थिति की अपेक्षा से भी अनन्त भेद हो जाते हैं। जीव जितने प्रदेश (स्थान) को अवगाहे (स्थित होकर रहे) उसे अवगाहन कहते हैं। एक जीव की अवगाहना लोक के असंख्यातवें भाग के बराबर है। शरीर छोटे बड़े होने के कारण प्रदेशों की न्यूनता (कमी) और अधिकता (वेशी) होती है। अतः अवगाहना की अपेक्षा से भी जीव के अनन्त भेद हो जाते हैं तथा ज्ञान और दर्शन के अनन्त पर्यायों की अपेक्षा से जीव के अनन्त भेद होते हैं क्योंकि सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्त जीव से लेकर केवलज्ञानी तक के जीवों के दर्शन और ज्ञान के अनन्त पर्याय होते हैं।

**सामान्यं खलु लक्षणमुपयोगो भवति सर्वजीवानाम्।**
**साकारोऽनाकारश्च सोऽष्टभेदश्चतुर्धा तु ॥१६४॥**

समस्त जीवों का सामान्य लक्षण तो वास्तव में उपयोग (चेतना) है। वह उपयोग साकार और अनाकार रूप से दो प्रकार का है। फिर साकार उपयोग के आठ भेद होते हैं और अनाकार-उपयोग के चार भेद होते हैं।

जीव का मूल गुण उपयोग है। यह घट ही है, या यह पट ही है, अथवा यही अमुक है; अमुक वर्ण का है अमुक स्थान का है, अमुक कर्ता है। इस प्रकार जब जीव किसी पदार्थ के विशेष धर्म को ग्रहण करता है, तब उसके उस उपयोग को साकार-उपयोग कहा जाता है यानी जो उपयोग विशेष आकार का बोध कराए उसे साकारोपयोग, ज्ञानोपयोग अथवा विशेषोपयोग कहते हैं। 'यह कुछ है', इस प्रकार के सामान्य उपयोग को अनाकार (दर्शन) उपयोग कहते हैं।

इन साकार और अनाकार उपयोग के क्रमशः आठ और चार भेद हैं। जिन्हें ग्रन्थकार लिखते हैं :—

**ज्ञानाऽज्ञाने पञ्चत्रिविकल्पे सोऽष्टधा तु साकारः ।**
**चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदृग्विषयस्त्वनाकारः ॥१६५॥**

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान ये पांच ज्ञान हैं। मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान ये तीनों अज्ञान हैं। इस तरह आठ प्रकार का उपयोग साकार है और चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन का विषय अनाकार उपयोग होता है।

**भावा भवन्ति जीवस्यौदयिकः पारिणामिकश्चैव ।**
**औपशमिकः क्षयोत्थः क्षयोपशमजश्च पञ्चैते ॥१६६॥**

औदयिक, पारिणामिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये पांच भाव जीव के होते हैं।

भाव जीव का स्वरूप है। शुभाशुभ कर्मप्रकृति के उदय से प्रगट हुए जीव के स्वभाव को औदयिक भाव कहते हैं। कर्मनिरपेक्ष (स्वतः सिद्ध) भव्यत्व, अभव्यत्व, जीवत्व, अस्तित्व आदि भाव को पारिणामिक भाव कहते हैं। मोहनीय कर्म के विपाक और प्रदेश के उपशम से प्रगट हुए स्वभाव को औपशमिक भाव कहते हैं। कर्म के आत्यन्तिक सर्वथा) क्षय होने से उत्पन्न हुए जीव के स्वभाव को क्षायिक भाव कहते हैं और उदय में आये हुए कर्म के क्षय और अनुदित कर्म के उपशम से प्रगट हुए जीव के स्वभाव को औदयिक भाव कहते हैं।

**ते चैकविंशतित्रिद्विनवाष्टादशविधाश्च विज्ञेयाः ।**
**षष्ठश्च सान्निपातिक इत्यन्यः पञ्चदशभेदः ॥१६७॥**

इन पांचों भावों के अनुक्रम से इक्कीस, तीन, दो, नौ और अठारह भेद जानने चाहिए और पांचों से अलग छठा सान्निपातिक भाव है। जिसके पन्द्रह भेद हैं।

औदयिक भाव के इक्कीस भेद ये हैं—नरकगति, तिर्यञ्चगति मनुष्यगति, देवगति, क्रोध, मान, माया और लोभ, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व, कृष्ण, नील कापोत, तेज, पद्म और शुक्ललेश्या।

पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं–जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व।

औपशमिक भाव के दो भेद हैं— सम्यक्त्व और चारित्र।

क्षायिक भाव के नौ भेद हैं—केवलज्ञान, केवलदर्शन, दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि, वीर्यलब्धि, सम्यक्त्व और चारित्र।

क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यलब्धि, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम (देशविरति)।

छठा सान्निपातिक भाव है जो पांचों भावों के संयोग से होता है, असल में यह स्वतन्त्रभाव नहीं हैं। किन्तु संयोग से ही समुत्पन्न भाव है। इसके २६ भेद हैं। ११ विरोधी होने से त्याज्य हैं, शेष १५ ग्राह्य हैं।

**एभिर्भावैः स्थानं गतिमिन्द्रियसम्पदः सुखं दुखम्।**
**संप्राप्नोतीत्यात्मा सोऽष्टविकल्पः समासेन ॥१६८॥**

इन भावों से जीव स्थान, गति, इन्द्रिय, संपदा, सुख-दुःख प्राप्त करता है। इस दृष्टि से संक्षेप में आत्मा आठ प्रकार की होती है।

इन औदयिक आदि पांच भावों से आत्मा अलग-अलग स्थानों में अलग-अलग गतियों में और अलग-अलग इन्द्रियों में जन्म लेता

है तथा अलग-अलग सम्पत्ति सुख-दुःखादि प्राप्त करता है। इस दृष्टि से संक्षेप में आत्मा के आठ भेद होते हैं, जिन्हें ग्रन्थकार आगे बतलाते हैं :—

**द्रव्यं कषाययोगावुपयोगो ज्ञानदर्शने चेति ।**
**चारित्रं वीर्यं चेत्यष्टविधा मार्गणा तस्य ॥१९९॥**

द्रव्य कषाय, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य इस तरह आत्मा की आठ प्रकार से मार्गणा होती है।

किसी विषय में सभी पहलुओं पर गहराई से अन्वेषण या अनुसंधान, निरीक्षण-परीक्षण या शोध करने को जैन परिभाषा में मार्गणा कहते हैं। जैनशास्त्रों में किसी पदार्थ का विश्लेषणपूर्वक गहराई से रहस्योद्घाटन या अन्वेषण करने के लिए आठ मार्गणास्थान (द्वार) बताए गए हैं। कर्मग्रन्थ आदि में अधिक विस्तार से समझने के लिए १४ मार्गणास्थान बताए हैं, जब कि यहां भगवती सूत्र के अनुसार ८ मार्गणास्थान (द्वार) ही बताए हैं।

**जीवाजीवानां द्रव्यात्मा सकषायिणां कषायात्मा ।**
**योगः सयोगिनां पुनरुपयोगः सर्वजीवानाम् ॥ २०० ॥**

जीव और अजीव को द्रव्यात्मा कहते हैं, कषाययुक्त आत्मा को कषायात्मा कहते हैं, योग वाले को योगात्मा कहते हैं और सर्वजीवों के उपयोग होता है, इसलिए उन्हें उपयोगात्मा भी कहते हैं।

जीव अन्वयी द्रव्य है; क्योंकि वह सब पर्यायों में अनुस्यूत रहता है। जो नरकादि विविध पर्यायों को प्राप्त करता है, उसे द्रव्य कहते हैं। जीव भी अपनी सर्व पर्यायों मे रहता है, इसलिए द्रव्य है। द्रव्य को ही द्रव्यात्मा कहते हैं। क्योंकि वह अपनी समस्त

दशाओं में अन्वित रहता है। इसी तरह अजीव पुद्गल धर्मास्तिकाय आदि में जो अन्वयी अंश होता है, उसे द्रव्यात्मा कहते हैं। इस तरह जीव अजीव द्रव्यों से युक्त होने के कारण आत्मा द्रव्यात्मा कहलाती है। मतलब यह है कि चेतन और अचेतन छहों द्रव्यों में जो स्थितिरूप अंश है, वह प्रत्येक पर्याय में कायम रहता है, उसी को यहां 'आत्मा' शब्द से कहा गया है। चूंकि सब द्रव्य अपने उस अंश को कभी नहीं छोड़ते। जैसे सोने के आभूषणों में सुवर्णत्व स्थायी अंश है, वैसे ही सब द्रव्यों के अपने-अपने स्थायी अंश को ही उनकी द्रव्यात्मा जानना चाहिये। क्रोध, मान, माया और लोभ प्रगट होने पर अवश्य नये कर्मों का बन्धन होता है। और उसका मुख्य कारण कषाय है। कषाय से घुलेमिले जीव को कषायात्मा कहते हैं। विचार के समय आत्मा का स्फुरण होना मनोयोग है; वचनोच्चार के समय आत्म का स्फुरण होना वचनयोग है, काया की स्थूल-सूक्ष्म चेष्टा से आत्मा का स्फुरण होना कायायोग है। इन तीनों योगों से संयुक्त आत्मा को योगात्मा कहते हैं। देखने और जानने रूप व्यापार को उपयोग कहते हैं। उससे युक्त आत्मा को उपयोगात्मा कहते हैं। उपयोगात्मा सभी जीवों के होता है। क्योंकि उपयोग ही जीव का लक्षण है।

**ज्ञानं सम्यग्दृष्टे दर्शनमथ भवति सर्वजीवानाम्।**
**चारित्रं विरतानां तु सर्वसंसारिणां वीर्यम् ॥२०१॥**

सम्यग्दृष्टियुक्त जीव को ज्ञानात्मा कहते हैं। सर्वजीवों के दर्शन (निराकार उपयोग) होता है; अतः समस्त जीवों को दर्शनात्मा कहते हैं। व्रतधारियों को चारित्रात्मा कहते हैं और समस्त संसारी जीवों में वीर्य होता है, इसलिए समस्त संसारी जीव वीर्यात्मा कहलाते हैं।

सम्यग्दर्शन से युक्त आत्मा ज्ञानपरिणाम वाला होता है। इस लिए उस ज्ञानयुक्त आत्मा को ज्ञानात्मा कहते हैं। चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शनयुक्त आत्मा को दर्शनात्मा कहते हैं यह सभी जीवों में होता है। जीवहिंसा आदि का त्याग करने और चारित्रमार्ग को अपनाने वाले व्रतधारियों को चारित्रात्मा कहते हैं। वीर्य शक्ति को कहते हैं। वह जीवमात्र में पाया जाता है। अतः सभी संसारी जीव वीर्यात्मा होते हैं।

**द्रव्यात्मेत्युपचारः सर्वद्रव्येषु नयविशेषेण ।**
**आत्मादेशादात्मा भवत्यनात्मा परादेशात् ॥२०२॥**

समस्त द्रव्यों को नयविशेष की अपेक्षा से उपचार से ही द्रव्यात्मा कहा जाता है। अपने स्वरूप (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) की अपेक्षा से आत्मा आत्मा है और परस्वरूप (परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) की अपेक्षा से आत्मा अनात्मा है।

एक ही आत्मा के विविध संयोगवश आठ भेद बतलाये गये हैं। सर्वप्रथम द्रव्यात्मा के विषय में प्रश्न होता है कि आत्मा चेतन है और ज्ञानदर्शनरूप उपयोगमयी है; अतः उस (जीव के साथ अजीव को भी द्रव्यात्मा बतलाना ठीक नहीं है; क्योंकि अजीव पुद्गल आदि को आत्मा शब्द से कैसे पुकारा जा सकता है? इसके उत्तर में कहते हैं—उपचार एक प्रकार का शाब्दिक व्यवहार कहलाता है। वह उपचार किसी भी निमित्त को ले कर किया जा सकता है। यहां जीव और अजीव दोनों में वह निमित्त समान है।

आत्मा शब्द का प्रयोग यहाँ चैतन्ययुक्त अर्थ में नहीं हुआ है, अपितु अन्वयरूप सेसब पर्यायों में गमन करने के अर्थ में आत्मा शब्द प्रयुक्त हुआ है। जैसे चैतनद्रव्य अपनी पर्यायों में अन्वयी है, उसी तरह पुद्गलादि अचेतनद्रव्य भी अपनी पर्यायों में अन्वयी

हैं। अतः उन्हें भी आत्मा कहा है इसलिए सामान्यग्राही नय के द्वारा सब द्रव्यों के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग हुआ है।

वह आत्मा भी अपने द्रव्यक्षेत्रकालभाव की अपेक्षा से ही है, पर द्रव्य की अपेक्षा से सर्वथा नहीं। अर्थात् जब उस आत्मा को उसी स्वरूप से विवक्षित किया जाता है, तब वह है और जब उसे पररूप से विवक्षित किया जाता है तो वह नहीं है। जिस प्रकार अपने अस्तित्व की अपेक्षा से वह पदार्थ 'सत्' कहा जाता है, उसी तरह दूसरे के अस्तित्व की अपेक्षा वह 'असत्' कहा जाता है। मतलब यह है कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से ही है, और पर-स्वरूप से नहीं है। जैसे घट, पट अपने स्वरूप से है; परन्तु न घट में पट का स्वरूप पाया जाता है और न पट में घट का स्वरूप पाया जाता है, अतः घट पटस्वरूप से नहीं है और पट घटस्वरूप से नहीं है।

इस तरह जगत् की सभी वस्तुएं अपने-अपने स्वरूप की अपेक्षा से 'सत्' हैं और अपने से भिन्न अन्य सब स्वरूपों की अपेक्षा से 'असत्' हैं। इसी तरह आत्मा स्व-क्षेत्र की अपेक्षा से है और परक्षेत्र की अपेक्षा से नहीं है। वर्तमान काल की अपेक्षा से है, अतीत-अनागत काल की अपेक्षा से नहीं है। तथा औदयिक आदि भावों में से किसी एक विवक्षितभाव की अपेक्षा से है और अविवक्षित अन्य भावों की अपेक्षा से नहीं है। मतलब यह है कि प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, अपने क्षेत्र, अपने काल और अपने भाव की अपेक्षा से ही सत् होती है और पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से असत् होती है।

घट जिस क्षेत्र में वर्तमान है, उसी क्षेत्र की अपेक्षा से सत् है अन्य क्षेत्र की अपेक्षा से सत् नहीं है। यदि ऐसा न माना जायेगा तो घट व्यापक हो जायेगा या उसका बिल्कुल अभाव ही हो जायेगा

तथा घट जिस काल में है उस काल की अपेक्षा से सत् है, अन्यकाल की अपेक्षा से असत् है। नहीं तो, घट नित्य या अभावयुक्त हो जायेगा, इसी तरह भाव की अपेक्षा से जानना।

यदि ऐसा न माना जायेगा तो सम्पूर्ण व्यवस्था भंग हो जायेगी। अतः समस्त वस्तुएं सत् और असत् समझनी चाहिए।

**एवं संयोगाल्पबहुत्वाद्यैर्नैकशः स परिमृग्यः।**

**जीवस्यैतत्सर्वं स्वतत्त्वमिह लक्षणैर्दृष्टम् ॥२०३॥**

इस तरह संयोग, अल्पबहुत्व आदि से जीव की अनेक प्रकार से मार्गणा करनी चाहिए। यहां पर जीव का यह सब स्वरूप और लक्षणों के द्वारा प्रतीत होता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की तरह संयोग, अल्पबहुत्व आदि की अपेक्षा से भी आत्मा का विश्लेषण करना चाहिए, आत्मा जिस-जिससे संयुक्त है, उसकी अपेक्षा से है और जिस-जिससे संयुक्त नहीं उसकी अपेक्षा से नहीं है। जैसे नारकी नरकगति के संयोग की अपेक्षा से ही है। देवगति के संयोग की अपेक्षा से नही है। इसी तरह आत्मा अल्पत्व और बहुत्व की अपेक्षा से भी सत् और असत् है। जैसे मनुष्य थोड़े हैं, देव उनसे असंख्यातगुने ज्यादा हैं और तिर्यञ्च अनन्तगुने अधिक हैं, अतः तिर्यञ्चों की संख्या की अपेक्षा से मनुष्य नहीं हैं, क्योंकि मनुष्यों से तिर्यञ्च अनन्तगुने अधिक हैं, और अपनी संख्या की अपेक्षा से मनुष्य हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव आदि अनुयोगद्वारों की अपेक्षा से भी सत् और असत् का विचार करना चाहिए। तथा निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण स्थिति और विधान आदि अपेक्षा से भी आत्मा का विचार करना चाहिए। इस तरह विचार करने से आत्मा के स्वरूप की प्रतीति होती है।

**उत्पादविगमनित्यत्वलक्षणं यत्तदस्ति सर्वमपि ।**
**सदासद्वा भवतीत्यन्यथार्पितानर्पितविशेषात् ॥२०४॥**

उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य लक्षण वाला जो-जो पदार्थ है, वह सब सत् है और जो उससे विपरीत है, वह असत् है। अर्पित (प्रधान) और अनर्पित (गौण) की विशेषता (अपेक्षा) से पदार्थ सत् और असत् होता है।

उत्पाद उत्पत्ति को कहते हैं, विनाश को विगम अथवा व्यय कहते हैं और जो दोनों अवस्थाओं में रहता है; उसे ध्रौव्य कहते हैं। जिनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जाता है, वे सब पदार्थ सत् कहलाते हैं। जैसे कोई मनुष्य सोने के कंगन को लेकर सुनार के पास गया और बोला–इस कंगन का हार बना दो। कंगन का हार बनना उत्पाद है और कंगन का विनाश होना कंगन का व्यय है, कंगन बने अथवा हार बने दोनों ही अवस्था में सोना सोना ही रहेगा। उसी स्वर्णत्व गुण को ध्रुव कहते हैं। इसी तरह सब पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रुवात्मक हैं। अब इस नियम से जो विपरीत (एकान्त) है, वह असत्य है। इसी तरह अर्पित (घटित) अनर्पित (अघटित) भेद से वस्तु सत्य भी होती है और असत्य भी होती है। इसके ७ भंग होते हैं— कथंचिद् (स्यात्) वस्तु है, कथंचिद् (स्यात्) नहीं है; कथंचिद् है भी और नहीं भी है; कथंचिद् अवक्तव्य (कह न सकने योग्य) है; कथंचिद् है, किन्तु अवक्तव्य है; कथंचिद् है, नहीं है किन्तु अवक्तव्य है।

जिस पदार्थ के धर्म की विवक्षा (खासतौर से कहने की इच्छा) होती है उसे अर्पित या प्रधान कहते हैं। और जिस पदार्थ के धर्म की विवक्षा नहीं होती उसे अनर्पित या गौण कहते हैं। इसी गौणता और मुख्यता के भेद से उपर्युक्त सप्तभंगी बनती है।

**योऽर्थो यस्मिन्नाभूत् साम्प्रतकाले च दृश्यते तत्र ।**
**तेनोत्पादस्तस्य विगमस्तु तस्माद्विपर्यासः ॥२०५॥**

जिस पदार्थ में जो स्वरूप पहले नहीं था किन्तु वर्तमान काल में उसमें देखा जाता है; वह उत्पाद है और जो विनष्ट हुआ वह व्यय है और पदार्थ तो ध्रुव (कायम) है।

मिट्टी के पिण्ड में घड़ा पहले नहीं था, परन्तु बाद में कुम्हार ने चक्र पर रख कर पिंड को घुमाया तब वह पिंड घड़े के आकार में हो गया, इसी का नाम उत्पाद है। पूर्व में जो पिंड था, वही नष्ट हो कर घड़ा बना। अतः उस पिंड का विनाश होने को व्यय कहते हैं। वह पिंड रहे अथवा घड़ा बने मिट्टी तो दोनों ही अवस्थाओं में रहती है; उसी को ध्रुव (नित्य) कहते हैं।

**साम्प्रतकाले चानागते च यो यस्य भवति सम्बधी।**
**तेनाविगमस्तस्येति स नित्यस्तेन भावेन ॥२०६॥**

वर्तमान काल में, भविष्यकाल में और भूतकाल में जो जिससे सम्बन्धित है, जिसके मूल रूप में किंचित् भी परिवर्तन नहीं होता और जो सदैव अपने रूप से स्थिर रहता है, उसे ध्रुव या नित्य कहते हैं।

प्राचीन पिंडरूप अवस्थाओं में और आने वाले काल में तथा वर्तमानकाल में घट में मिट्टी सर्वदा अपने रूप में रहती है, यही मिट्टी की नित्यता है।

इसी तरह समस्त पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रुवरूप हैं। न सर्वथा पदार्थ ध्रुवरूप ही है और न हा उत्पादव्ययरूप है। नित्यता के बिना उत्पाद और नाश नहीं हो सकते। जैसे मिट्टी के बिना घड़ा नहीं बन सकता और न पिंड ही नष्ट हो सकता है। यदि कोई

पदार्थ बनता है तो ध्रौव्य और विनाश की अपेक्षा से ही उत्पन्न होता है। जिस प्रकार घड़े का उत्पादन मिट्टी की नित्यता और पिंड के विनाश के बिना संभव नहीं है। यदि कोई वस्तु नष्ट होती है तो ध्रौव्य और उत्पाद की अपेक्षा से ही नष्ट होती है। जैसे कि पिंड का नाश मिट्टी की ध्रुवता और घट के उत्पाद की अपेक्षा रखता है। जो उत्पाद-विनाशपूर्ण है वही ध्रुवरूप है। सर्वथा ध्रुव कोई वस्तु नहीं है। ये तीनों ही परस्पर सम्बन्धित हैं।

**धर्माधर्माकाशानि पुद्गलाः काल एव चाजीवाः ।**
**पुद्गलवर्जमरूपं तु रूपिणः पुद्गलाः प्रोक्ताः ॥२०७॥**

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल ये पांचों अजीव हैं। इनमें पुद्गल के सिवाय शेष अरूपी हैं और पुद्गल को रूपी कहा है।

**द्व्यादिप्रदेशवन्तो यावदनन्तप्रदेशकाः स्कन्धाः ।**
**परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजनीयः २०८॥**

दो प्रदेश से लेकर अनंतप्रदेश वाले पुद्गल स्कन्ध कहलाते हैं। परमाणु प्रदेशरहित कहलाता है। किन्तु प्रत्येक परमाणु में वर्णादि चारों गुणों की भजना होती है। यानी किसी में होते हैं किसी में नहीं।

मिले हुए अनंत पुद्गलपरमाणुओं के छोटे समूह को स्कन्ध कहते हैं। स्कन्ध से लगा हुआ अति सूक्ष्मभाग (जिसका फिर विभाग न हो सके) उसको प्रदेश कहते हैं। स्कन्ध से पृथक् व प्रदेश के समान अति सूक्ष्म स्वतन्त्र भाग को परमाणु कहते हैं। दो प्रदेश से लेकर अनन्त प्रदेश वाले पुद्गल को स्कन्ध कहते हैं। प्रदेश रहित परमाणु

कहलाता है। किन्तु प्रत्येक परमाणु में वर्ण गन्ध, रस और स्पर्श गुण नियम से नहीं पाए जाते।

**भावे धर्माधर्माम्बरकालाः पारिणामिके ज्ञेयाः**
**उदयपरिणामि रूपं तु सर्वभावानुगा जीवाः ॥२०९॥**

धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन्हें द्रव्य के पारिणामिक भाव जानने चाहिए और रूपी पुद्गल के उदयभाव और पारिणामिक भाव होते हैं और जीव सभी भावों का अनुसरण करने वाले होते हैं।

जैसे जीव के भव्यत्व आदि भाव पारिणामिक होते हैं, वैसे ही धर्मास्तिकाय आदि भी पारिणामिक ही होते हैं; क्योंकि जैसे संसार अनादि है वैसे ही धर्मास्तिकायादि भी अनादि हैं। लोक कभी भी धर्मास्तिकाय से रहित नहीं था। पुद्गल पदार्थ के औदयिक और पारिणामिक भाव होते हैं। पुद्गल का परमाणुरूप परिणाम तो अनादि है और द्व्यणुक, मेघशब्द, इन्द्रधनुष आदि सादिपरिणाम वाले हैं। परमाणु और स्कन्ध परस्पर मिलने से जो द्व्यणुक रूप-रस आदि होते हैं, वे औदयिक हैं। तात्पर्य यह है कि अनादि को परिणामिक में, सादिक को औदयिक में जानना चाहिये। रूप-रस परिणाम अनादि हैं, फिर भी उनमें हानि-वृद्धि होने की अपेक्षा से वे सादि हैं।

**जीवाजीवा द्रव्यमिति षड्विधं भवति★ लोकपुरुषोऽयम्।**
**वैशाखस्थानस्थः पुरुष इव कटिस्थकरयुग्मः ॥२१०॥**

इस तरह जीव और अजीवरूप द्रव्य के छह भेद होते हैं। ये छहों लोक में रहते हैं। लोक पुरुष के आकार वाला है। दोनों हाथ कमर पर रखकर पैर फैला कर खड़े हुए पुरुष की आकृति के समान है। इसे चौदह रज्जु (राजू) प्रमाण लोक भी कहते हैं।

---

★देखो चौदह राजू लोक का नक्शा पृष्ठ १०२ से आगे।

**तत्राधोमुखमल्लकसंस्थानं वर्णयन्त्यधोलोकम् ।**
**स्थालमिव तिर्यग्लोकमूर्ध्वमथ मल्लकसमुद्गम् ॥२११॥**

उस लोक में अधोलोक नीचे मुंह किये हुए (औंधे रखे हुए) मल्लक (सकोरे) के आकार का है। तिरछालोक थाली-सरीखे आकार का है और ऊर्ध्वलोक खड़े किये हुए मृदंग के आकार का है।

इस लोक के तीन विभाग हैं-अधोलोक, तिर्यग्लोक और ऊर्ध्व-लोक। इन तीनों की आकृतियां अलग-अलग हैं। इसके कई हिस्से हैं, जिसका वर्णन करते हैं —

**सप्तविधोऽधोलोकस्तिर्यग्लोको भवत्यनेकविधः ।**
**पञ्चदशविधानः पुनरुर्ध्वलोकः समासेन ॥२१२॥**

अधोलोक के सात भेद है, तिर्यग्लोक के अनेक भेद हैं और ऊर्ध्वलोक के सक्षेप में पन्द्रह भेद हैं। अधोलोक की पृथिवियों के ७ नाम हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा। यों पृथिवियों के भेद से अधोलोक के सात विभाग हैं। इनमें नरकगति के जीव रहते हैं। तिर्यग्लोक को मध्यलोक भी कहते हैं। इसमें जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि-समुद्र, पुष्करावर्तद्वीप आदि असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं अतः इसके भी अनेक भेद हैं। इसमें ज्योतिष्क जाति के देवों का भी निवास है।

ऊर्ध्वलोक के पन्द्रह भेद है। सौधर्म आदि बारह देवलोक हैं। उसमें आनत और प्राणत देवलोक में एक इन्द्र, आरण और अच्युत देवलोक में एक इन्द्र है और शेष आठ देवलोकों में आठ इन्द्र हैं। इन १२ देवलोकों के ऊपर नौ ग्रैवेयक हैं।

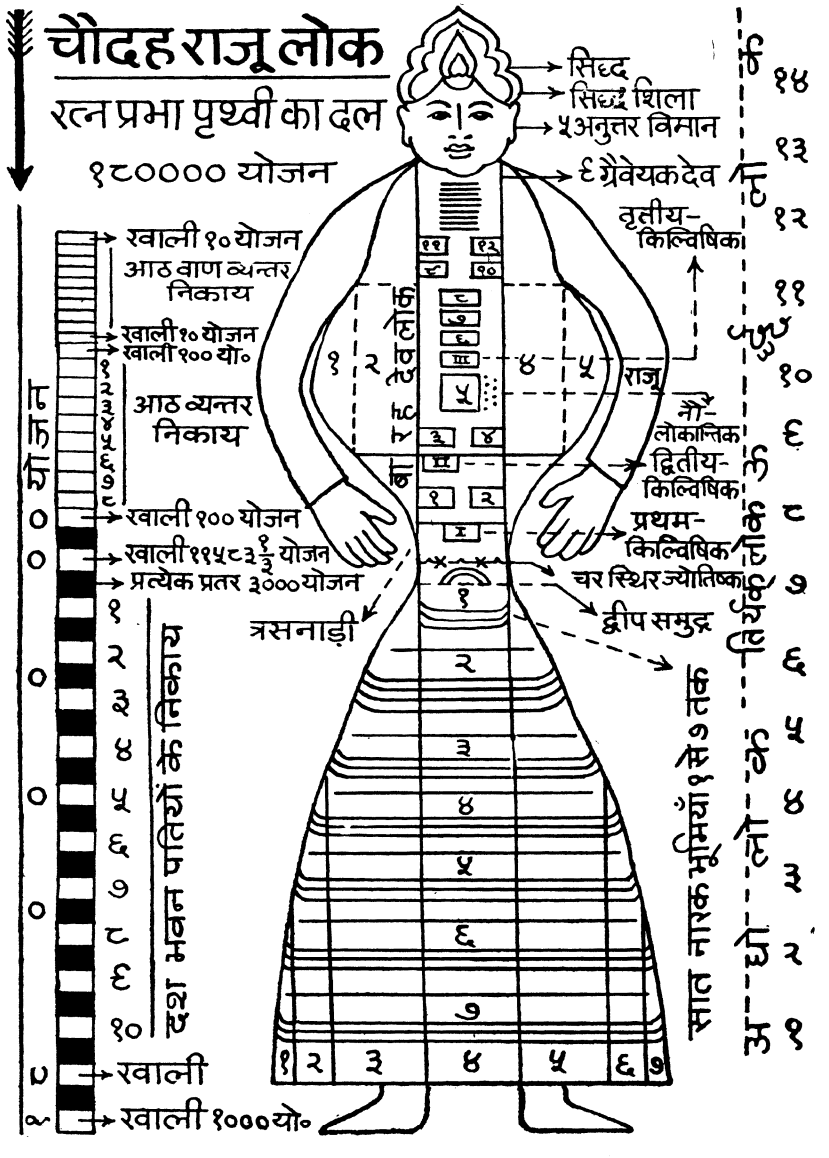
चौदह राजू लोक
रत्न प्रभा पृथ्वी का दल
१८०००० योजन
सिद्ध
सिद्ध शिला
५ अनुत्तर विमान
९ ग्रैवेयक देव
वृतीय-किल्विषिक
नौ-लोकान्तिक
द्वितीय-किल्विषिक
प्रथम-किल्विषिक
चर स्थिर ज्योतिष्क
द्वीप समुद्र
त्रसनाड़ी
राजू
१ २ ४ ५
१४ ऊर्ध्व लोक
१३
१२
११
१०
९
८
७
६
५
४
३
२
१
अधो लोक
तिर्यक् लोक
सात नारक भूमियों से ७ तक
१ २ ३ ४ ५ ६ ७
रत्न प्रभा पृथ्वी के तीन काण्ड
खर भाग
पंक भाग
अब्बहुल भाग
दश भवन पतियों के निकाय
असुर कुमार
नाग कुमार
विद्युत कुमार
सुपर्ण कुमार
अग्नि कुमार
वात कुमार
स्तनित कुमार
उदधि कुमार
द्वीप कुमार
दिक् कुमार
आठ व्यन्तर निकाय
आठ वाण व्यन्तर निकाय
खाली १० योजन
खाली १० योजन
खाली १०० यो०
खाली १०० योजन
खाली ११५८३ १/३ योजन
प्रत्येक प्रतर ३००० योजन
खाली
खाली १००० यो०
योजन
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०

उनके तीन भेद हैं—अधोग्रैवेयक, मध्यम ग्रैवेयक और उपरितन ग्रैवेयक। पांच अनुत्तर विमानों का एक भेद है। और ईषत्प्राग्भार, जिसे सिद्धशिला भी कहते हैं, उसका एक भेद है। इस तरह ऊर्ध्वलोक के पन्द्रह भेद हैं। कहीं पर १२ कल्पों के १२ भेद, नौ ग्रैवेयक का एक भेद, पांच अनुत्तरों का एक भेद और सिद्धशिला का एक भेद, यों कुल १६ भेदों का वर्णन है।

**लोकालोकव्यापकमाकाशं मर्त्यलोकिकः कालः।**
**लोकव्यापि चतुष्टयमवशेषं त्वकेजीवो वा ॥२१३॥**

आकाश लोकालोक में व्याप्त (फैला हुआ) है। काल मनुष्यलोक में ही होता है। शेष चार द्रव्य लोकव्यापी हैं। और जीव भी (केवलीसमुद्घात के समय में) लोकव्यापी होता है।

एक जीव और पांच अजीव जहां पाये जायं, उसे लोकाकाश कहते हैं और जहां जीव आदि का सर्वथा अभाव हो उसे अलोकाकाश कहते हैं। आकाशद्रव्य लोक और अलोकस्वरूप में हैं। मानुषोत्तर पर्वत से घिरे हुए ढाई द्वीप और दो समुद्र (परिमित स्थान) को मनुष्यलोक कहते हैं। इसमें सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्क देवविमान भ्रमण करते हैं। अतः इस क्षेत्र में भूत, भविष्य और वर्तमान काल का व्यवहार होता है, दिन-रात बनते हैं और अन्य असंख्यात द्वीप समुद्र में सूर्य-चन्द्र स्थिर रहते हैं। इसलिये वहां काल का अभाव है। परन्तु ज्योतिष्क की गति से काल का व्यवहार मनुष्यलोक में होता है। शेष धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गलद्रव्य लोकव्यापी हैं। धर्म और अधर्म समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। सूक्ष्म शरीर वाले जीव भी लोक में पाये जाते हैं। परमाणु आदि पुद्गल द्रव्य भी सम्पूर्ण लोक में रहते हैं। एक जीव भी केवली समुद्घात के समय सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है। यानी अपनी आकृति लोकाकाश के बराबर बना लेता है।

**धर्माधर्माकाशान्येकैकमतः परं त्रिकमनन्तम् ।**
**कालं विनास्तिकाया जीवमृते चाऽप्यकर्तृणि॥२१४॥**

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश ये तीनों द्रव्य एक-एक हैं। बाकी के तीन द्रव्य-पुद्गल, काल और जीव द्रव्य-अनन्त हैं। काल के सिवाय शेष पांचों द्रव्य अस्तिकाय हैं और जीव को छोड़ कर पांचों अकर्ता हैं।

**धर्मो गतिस्थितिमतां द्रव्याणां गत्युपग्रहविधाता ।**
**स्थित्युपकृच्चाधर्माऽवकाशदानोपकृद् गगनम् ॥२१५॥**

गतिमान(गति करने वाले और स्थितिमान(स्थिर रहने वाले) द्रव्यों को गति करने में क्रमशः सहायता देने वाला धर्मास्तिकाय है; स्थिति (स्थिरता) में सहायता करने वाला अधर्मास्तिकाय है और अवकाश (स्थान) देने में सहायक आकाशास्तिकाय है। जीव गतिपरिणाम वाला है।

धर्मास्तिकाय चलन गुण (गति देने के स्वभाव) वाला है जैसे-मछली के चलने-फिरने में जल सहायक होता है, उसी तरह जीव और पुद्गल के संञ्चार में, हिलने-डुलने में धर्मास्तिकाय सहायक होता है। अधर्मास्तिकाय स्थिरता (स्थिति) देने के स्वभाव वाला है। जैसे वृक्षादि की छाया पथिकों को विश्रान्ति लेने में, ठहरने में कारण है, उसी तरह जीव और पुद्गल को स्थिर रखने में ठहराने में अधर्मास्तिकाय सहायक कारण है। अवकाश देना आकाशास्तिकाय का स्वभाव है। जैसे दूध शक्कर को अपने में अवकाश दे देता है, उसी तरह आकाशास्तिकाय जीवों और पुद्गलों को अवकाश देता है।

**स्पर्शरसगन्धवर्णाः शब्दो बन्धश्च सूक्ष्मता स्थौल्यम् ।**
**संस्थानं भेदतमश्छायोद्योतातपश्चेति ॥२१६॥**

**कर्मशरीरमनोवाग्विचेष्टितोच्छ्वासदुःखसुखदाः स्युः ।**
**जीवितमरणोपग्रहकराश्च संसारिणः स्कन्धाः ॥२१७॥**

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, खण्ड, अन्धकार, छाया, उद्योत और आतप ये सब पुद्गल स्कन्ध हैं।

संसारी जीवों को ये स्कन्ध कर्म, शरीर, मन, वाक्चेष्टा, उच्छ्वास के द्वारा दुःख-सुख देने वाले हैं और जीवन-मरण में सहायता देने वाले हैं।

जिसका स्वभाव पूरन-गलन-सड़न-विध्वंसन का हो उसे पुद्गल कहते हैं। अर्थात् जो इकट्ठे हो कर मिल जाते हों और फिर अलग-अलग हो जाते हों, वे पुद्गल कहलाते हैं। प्रत्येक पुद्गल में आठ प्रकार के स्पर्श होते हैं—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष लघु (हलका) गुरु(भारी)कोमल और कर्कश। तथा पांच प्रकार के रस होते हैं—तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल (खट्टा) और मधुर। ये प्रत्येक पुद्गल में रहते हैं। दो प्रकार के गंध होते हैं—सुरभिगंध और दुरभिगन्ध। पांच प्रकार के मूल वर्ण (रूप) होते हैं श्वेतवर्ण, पीतवर्ण, रक्तवर्ण, नीलवर्ण और कृष्णवर्ण। शब्द अर्थात् आवाज ध्वनि या नाद। शब्द की उत्पत्ति पुद्गल से होती है। नैयायिक शब्द की उत्पत्ति आकाश से मानते हैं, तथा उसे आकाश का गुण कहते हैं। परन्तु आकाश अरूपी है, शब्द रूपी है। अतः शब्द पुद्गल का गुण है, आकाश का नहीं। कर्मपुद्गलों का आत्मप्रदेशों के साथ जो दूध-पानी की तरह बन्ध होता है, वह भी पुद्गल है। अन्धकार भी पुद्गलरूप है। शास्त्र में अन्धकार को घ्राणेन्द्रिय-ग्राह्य माना है। नैयायिक आदि अभाव नामक पदार्थ (सप्तपदार्थों में से एक) में अन्धकार का समावेश करते हैं। उनका कहना है-तेज

का अभाव ही अन्धकार है। परन्तु सर्वज्ञप्रभु ने तो अन्धकार को स्कन्ध पुद्गल बताया है। शीशे या प्रकाश में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब को छाया कहते हैं। बादरपरिणामी स्कन्धों में हर समय निकलते हुए जलकण आठ स्पर्शी होते हैं। ये पुद्गल स्कन्धों को प्रकाशित करते हैं। वास्तव में वह छाया है और पुद्गल है। चन्द्र अथवा सूर्य की किरणों से उत्पन्न हुए प्रकाश या उसकी कान्ति को उद्योत या प्रभा कहते हैं, वह भी पुद्गल है। शीत वस्तु का जो उष्ण प्रकाश है वही आतप है, इसलिए वह पौद्गलिक है तथा जिन स्कन्धों से संसारी जीवों के कर्म, शरीर मन, वचन श्वास, उच्छ्वास आदि बनते है;जिनके सेवन से उन्हें सुख-दुःख का अनुभव होता है, और जो उनके जीवन में सहायक है,जैसे दूध,घी आदि,और जो उन की मृत्यु में कारण है,जैसे विष आदि,वे सब पुद्गल के ही कार्य हैं।

**परिणामवर्तना विधिः परापरत्वगुणलक्षणः कालः।**
**सम्यक्त्वज्ञानचारित्रवीर्यशिक्षागुणाः जीवाः ॥२१८॥**

द्रव्य के परिणाम और आवर्त (हानि-वृद्धि) रूप तथा परत्व, अपरत्व (अमुक मास,ऋतु तिथि,वार,दिन-रात आदि का एक के बाद दूसरे के आने व जाने का क्रम) रूप लक्षण जिसमें हो, वह काल कहलाता है तथा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, और शिक्षा गुण वाला जीव है।

अंकुर फूटना, बढ़ना अथवा घटना इत्यादि परिणमन कालद्रव्य का उपकार है। यह अमुक पदार्थ था, अमुक है और अमुक बनेगा, इस प्रकार के व्यवहार को वर्तना कहते हैं। यह वर्तना भी काल का उपकार है। क्योंकि काल के कारण से ही 'है' 'था' 'होगा' आदि व्यवहार होते हैं। बड़ी उम्र की अपेक्षा से युवावस्था छोटी

कहलाती है और युवावस्था की अपेक्षा से वृद्धावस्था बड़ी कहलाती है। यह छोटे या बड़े का व्यवहार भी कालद्रव्य का कार्य है। इन गुणों से या कार्यों से काल को द्रव्य माना जाता है तथा जिसमें ज्ञान हो उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जानने को ज्ञान कहते हैं। उसी प्रकार क्रिया का निरोध करना चारित्र है। किसी वस्तु को क्रियान्वित करने के सामर्थ्य; बल अथवा पराक्रम को वीर्य कहते हैं। लिपि, अक्षर आदि के ज्ञान को शिक्षा कहते हैं। इन सभी गुणों वाला जीव होता है।

**पुद्गलकर्म शुभं यत्तत्पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम्।**
**यदशुभमथ तत्पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम् ॥२१६॥**

जिनशासन (संघ) में यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि जो शुभकर्म के पुद्गल हैं, वे पुण्य हैं, और जो अशुभकर्म के पुद्गल हैं, वे पाप हैं, ऐसा श्रीसर्वज्ञभगवान् ने कहा है।

'पुनातीति पुण्यम्' जो जीव को पवित्र करे वह पुण्य है। अर्थात् जीव को इष्ट सामग्री समय पर मिलती जाय, उस शुभकर्म का नाम पुण्य है। सर्वज्ञदेव ने इस कर्म (पुण्य) को ४२ शुभप्रकृतियां बताई हैं—

(१) सातावेदनीय (२) उच्चगोत्र (३) मनुष्यगति (४) मनुष्यानुपूर्वी (५) देवगति (६) देवानुपूर्वी (७) पञ्चेन्द्रियजाति (८) औदारिक शरीर (९) वैक्रिय शरीर (१०) आहारक शरीर (११) तैजस शरीर (१२) कार्माण शरीर (१३) औदारिक अंगोपांग (१४) वैक्रिय अंगोपांग (१५) आहारक अंगोपांग (१६) वज्रऋषभनाराच संहनन (१७) समचतुरस्र संस्थान (१८) शुभवर्ण (१९) शुभगंध (२०) शुभरस (२१) शुभस्पर्श (२२) अगुरुलघु (२३) पराघात (२४) श्वासो-

च्छ्वास (२५) आतप (२६) उद्योत (२७) शुभविहायोगति (२८) निर्माण (२९) द्वीन्द्रियत्रस (३०) बादर (३१) पर्याप्त (३२) प्रत्येक (३३) स्थिर (३४) शुभ (३५) सौभाग्य (३६) सुस्वर (३७) आदेय (३८) यशःकीर्ति (३९) देवायुष्य (४०) मनुष्यायुष्य (४१) तिर्यञ्चायुष्य और (४२) तीर्थंकरनामकर्म।

(१) जिस कर्म से जीव सुख का अनुभव करे, उसे 'सातावेदनीय' कहते हैं।

(२) जिस कर्म से उच्च कुल में पैदा हो, उसे 'उच्चगोत्र' कहते हैं।

(३) जिस कर्म से जीव को मनुष्यगति मिले, उसे 'मनुष्यगति नामकर्म कहते हैं।

(४) जिस कर्म से मनुष्य की आनुपूर्वी मिले, उसे मनुष्यानुपूर्वी कहते हैं। आनुपूर्वी का मतलब यह है कि जब जीव मनुष्य-शरीर छोड़ कर समश्रेणि से जाने लगता है तब आनुपूर्वी नामकर्म उस जीव को जबरदस्ती से जहां पैदा होना हो वहीं पहुंचा देता है।

(५) जिस कर्म से जीव को देवगति मिले, उसे देवगति नाम कहते हैं।

(६) जिस कर्म से जीव को देवता की आनुपूर्वी प्राप्त हो, उसे देवानुपूर्वी कहते हैं।

(७) जिस कर्म से जीव को पाचों इन्द्रियां मिलें, उसे पञ्चेन्द्रिय-जातिकर्म कहते है।

(८) जिस कर्म से जीव को औदारिक शरीर मिले, उसे औदारिक नामकर्म कहते हैं। उदार अर्थात् स्थूल (बड़े या मोटे) अथवा तीर्थंकर आदि उत्तम-पुरुषों की अपेक्षा से उदार यानी प्रधान पुद्गलों से जो शरीर बनता है, उसे औदारिक कहते हैं, मनुष्य पशु-पक्षी आदि का शरीर औदारिक कहलाता है।

(६) जिस कर्म से वैक्रियशरीर मिले, उसे वैक्रिय नामकर्म कहते हैं। अनेक प्रकार की क्रियाओं से बना हुआ शरीर वैक्रिय कहलाता हैं। उसके दो भेद हैं, औपपातिक और लब्धिजन्य। देवता और नारक जीवों का शरीर औपपातिक कहलाता है। लब्धि अर्थात् सामर्थ्यविशेष से प्राप्त होने वाली शक्ति। लब्धि के कारण तिर्यञ्च और मनुष्य भी कभी-कभी वैक्रिय शरीर धारण करते हैं, परन्तु वह लब्धिजन्य होता है, जन्म से प्राप्त नहीं होता।

(१०) जिस कर्म से आहारकशरीर की प्राप्ति हो उसे आहारक कर्म कहते हैं। दूसरे द्वीप में विद्यमान तीर्थंकर से अपना सन्देह मिटाने के लिए या उनका ऐश्वर्य देखने के लिए चौदह पूर्वधारी मुनिराज चाहते हैं तब निजशक्ति से एक (मुंड) हाथ प्रमाण चर्मचक्षु से अदृश्य (अव्यक्त) अतिसुन्दर शरीर बनाते हैं। उस शरीर को आहारक शरीर कहते हैं।

(११) जिस कर्म से तैजस शरीर की प्राप्ति हो, उसे 'तैजस नाम कर्म कहते हैं। किये हुए आहार को पचा कर रसरक्त आदि बनाने वाला तथा अपने तपोबल से तेजोलेश्या प्रगट करने (बाहर फैंकने) वाला शरीर तैजस कहलाता है।

(१२) जीवों के साथ लगे हुए आठ प्रकार के कर्मों का विकार-रूप तथा सब शरीरों का कारणरूप शरीर कार्माण शरीर कहलाता है। तैजस और कार्माण शरीर का अनादिकाल से जीव के साथ सम्बन्ध है और जब तक जीव मोक्ष नहीं पा लेता तब तक इनका वियोग नहीं होता।

(१३) औदरिक शरीर का अंगोपांग होना औदारिक अंगोपांग है।

(१४) वैक्रिय शरीर में अंगोपांग होना वैक्रिय अंगोपांग है।

(१५) आहारक शरीर के अंगोपांग का होना आहारक अंगोपांग है

जिस कर्म से अंग, उपांग और अंगोपांग मिलें, उसे अंगोपांग नामकर्म कहते हैं। जानु, भुजा, मस्तक, पीठ आदि अंग हैं, अंगुली आदि उपांग और अंगुली के पर्व, रेखा आदि अंगोपांग कहलाते हैं। औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर के अंग, उपांग आदि होते हैं लेकिन तैजस और कार्मण शरीर के अंगोपांग नहीं होते।

(१६) प्रथम संहनन-'वज्रऋषभनाराच' जिस कर्म से मिले उसे वज्रऋषभनाराच नामकर्म कहते हैं। हड्डियों की रचना को संहनन कहते हैं। दो हाड़ों का मर्कटबन्ध होने पर एक पट्टा दोनों पर लपेट दिया जाय, फिर तीनों पर कील ठोकी जाए, इस तरह की मजबूत हड्डियों की रचना को वज्रऋषभनाराच संहनन कहते हैं।

(१७) प्रथम संस्थान 'समचतुरस्र' जिस कर्म से मिले उसे समचतुरस्र संस्थान नामकर्म कहते हैं। पद्मासन से बैठने पर दोनों जानु और दोनों कन्धों का, इसी तरह बायें जानु और दाहिने कन्धे का तथा दक्षिण जानु और वामस्कन्ध का अन्तर समान हो तो उस संस्थान को 'समचतुरस्र' संस्थान कहते हैं। जिनेश्वर भगवान् तथा देवताओं का यही संस्थान है।

(१८) जिस कर्म से जीव का शरीर शुभवर्ण प्राप्त करे, वह शुभवर्ण नामकर्म है।

(१९) जिस कर्म से जीव को शुभगन्ध वाला शरीर मिले उसे शुभगन्ध नामकर्म कहते हैं।

(२०) जिन कर्मों से जीव का शुभरस वाला शरीर हो उसे शुभरस नामकर्म कहते हैं।

(२१) जिन कर्मों से जीव का शरीर शुभस्पर्श वाला हो, उसे शुभ स्पर्श नामकर्म कहते हैं।लाल, पीला और सफेद रंग शुभ वर्ण कहलाता

है। सुगन्ध (खुशबू) को शुभगन्ध कहते हैं। खट्टा, मीठा और कसैला रस, शुभरस कहलाता है। लघु, मृदु, (कोमल) उष्ण और स्निग्ध (चिकने) स्पर्श को शुभस्पर्श कहते हैं।

(२२) जिस कर्म से जीव का शरीर न लोहे जैसा भारी हो, न आक की कपास जैसा हल्का हो, किन्तु मध्यम हो उसे अगुरुलघु नाम-कर्म कहते हैं।

(२३) जिस कर्म से जीव बलवानों से भी पराजित न हो, उसे पराघात नामकर्म कहते हैं।

(२४) जिस कर्म से जीव श्वासोच्छ्वास ले सके, उसे श्वासोच्छ्वास' नामकर्म कहते हैं।

(२५) जिस कर्म से जीव का शरीर उष्ण न होकर भी उष्ण प्रकाश करे, उसे 'आतप' नामकर्म कहते हैं। सूर्यमण्डल में रहने वाले पृथ्वीकायजीवों का शरीर ऐसा ही हैं।

(२६) जिस कर्म से जीव का शरीर शीतल प्रकाश करने वाला हो, उसे 'उद्योत' नामकर्म कहते हैं। ऐसे जीव चन्द्रमण्डल और ज्योतिश्चक्र में होते हैं। वैक्रियलब्धि से साधु वैक्रियशरीर धारण करते हैं उस शरीर का प्रकाश शीतल होता है, वह इस उद्योत नामकर्म के कारण समझना चाहिये।

(२७) जिस कर्म से जीव हाथी; हंस, या बैल जैसी चाल चले, उसे 'शुभविहायोगति नामकर्म कहते हैं।

(२८) जिस कर्म से जीव के शरीर के अवयव नियत स्थान में व्यवस्थित हों उसे 'निर्माण' नामकर्म कहते हैं। जैसे कारीगर मूर्ति में यथायोग्य स्थानों में अवयवों को बनाता है वैसे ही निर्माण नाम कर्म भी अवयवों को बनाकर यथास्थान व्यवस्थित करता है।

(२६) जिस कर्म से जीव को 'त्रस' शरीर मिले उस त्रस नाम-कर्म कहते हैं। त्रस जीव वे हैं, जो स्वतन्त्ररूप से धूप से व्याकुल होने पर छाया में जायं और शीत से दुःखी होने पर धूप में जा सकें। द्वीन्द्रिय आदि जीव त्रस कहलाते हैं।

(३०) जिस कर्म से जीव का शरीर या शरीरसमुदाय आंखों से दिखाई दे सके, इतना स्थूल हो, उसे 'बादर' नामकर्म कहते हैं।

(३१) जिसके उदय से जीव अपनी पर्याप्तियों से युक्त हो उसे पर्याप्त नामकर्म कहते हैं।

(३२) जिस कर्म से एक शरीर में एक ही जीव स्वामी रहे, उसे 'प्रत्येक' नामकर्म कहते हैं।

(३३) जिस कर्म के उदय से जीव के दांत, हड्डी आदि अवयव मजबूत हो उसे 'स्थिर' नामकर्म कहते हैं।

(३४) जिस कर्म से जीव की नाभि के ऊपर का भाग शुभ हो, उसे 'शुभ' नामकर्म कहते हैं।

(३५) जिस कर्म से जीव सबका प्रियपात्र हो, उसे 'सौभाग्य' नामकर्म कहते हैं।

(३६) जिस कर्म से जीय का स्वर (आवाज) कोयल की तरह मधुर हो, उसे 'सुस्वर' नामकर्म कहते हैं।

(३७) जिस कर्म से जीव का वचन लोगों में आदरणीय हो, उसे 'आदेय' नामकर्म कहते हैं।

(३८) जिस कर्म से लोगों में यश और कीर्ति फैले उसे यशःकीर्ति कहते हैं।

(३९) जिस कर्म से जीव 'देव-आयु' प्राप्त करे उसे 'देवायु' नाम कर्म कहते हैं।

(४०) जिस कर्म के उदय से जीव मनुष्यायु प्राप्त करे उसे मनुष्यायु नामकर्म कहते हैं।

(४१) जिन कर्मो से जीव तिर्यञ्च की योनि पाता है उसे तिर्यञ्चायु नामकर्म कहते हैं।

(४२) जिस कर्म से जीव चौतीस अतिशयों से युक्त हो कर तीनों लोकों का पूजनीय बनकर तीर्थ (संघ) की रचना करता है, उसे तीर्थंकर नामकर्म कहते हैं। ये सभी प्रकृतियां पुण्योदय के फलस्वरूप मिलती हैं।

"पातयति नरकादिषु इति पापम्" जो नरक आदि दुर्गतियों में गिराता है वह पाप है अथवा "पाशयति मलिनयति जीवम् इति पापम्" जो जीव को बन्धन में डाले, मलिन करे वह पाप कहलाता हैं। पाप कर्म की ८२ अशुभ प्रकृतियां श्रीसर्वज्ञ प्रभु ने बतलाई हैं। वे इस प्रकार हैं:—

१-मतिज्ञानावरणीय २-श्रुतज्ञानावरणीय ३-अवधिज्ञानावरणीय ४-मनःपर्यवज्ञानावरणीय ५-केवलज्ञानावरणीय ६-दानान्तराय ७-लाभान्तराय ८-भोगान्तराय ९-उपभोगान्तराय १०-वीर्यान्तराय ११-चक्षुर्दर्शनावरणीय १२-अचक्षुर्दर्शनावरणीय १३-अवधिदर्शनावरणीय १४-केवलदर्शनावरणीय १५-निद्रा १६-निद्रानिद्रा १७-प्रचला १८-प्रचलाप्रचला १९-स्त्यानर्द्धि २०-नीचगोत्र २१-असातावेदनीय २२-मिथ्यात्व-मोहनीय २३ स्थावर २४-सूक्ष्म २५-अपर्याप्त २६-साधारण २७-अस्थिर २८-अशुभ २९-दुर्भग ३०-दुस्वर ३१-अनादेय ३२-अयशःकीर्ति ३३-नरकायु ३४-नरकगति ३५-नरकानुपूर्वी ३६-अनन्तानुबन्धी क्रोध ३७-अ०मान० ३८-अ०माया ३९-अ०लोभ ४०-अप्रत्याख्यानी क्रोध ४१-अप्र०मान ४२-अप्र०माया ४३-अप्र०लोभ ४४-प्रत्याख्यानी क्रोध ४५-प्र०मान ४६-प्र०माया ४७-प्र०लोभ ४८-संज्वलन-क्रोध ४९-सं०मान ५०-सं०-

माया ५१-सं०लोभ ५२-हास्य ५३-रति ५४-अरति ५५-शोक ५६-भय ५७-जगुप्सा ५८-स्त्रीवेद ५९-पुरुषवेद ६०-नपुसंकवेद ६१-तिर्यंचगति ६२-तिर्यञ्चानुपूर्वी ६३-एकेन्द्रिय जाति ६४-द्वीन्द्रिय जाति ६५-त्रीन्द्रिय जाति ६६-चतुरिन्द्रिय जाति ६७-अशुभविहायोगति ६८-उपघात ६९-अप्रशस्त वर्ण ७०-अप्रशस्त गन्ध ७१-अप्रशस्त रस ७२-अप्रशस्त स्पर्श ७३-ऋषभनाराच संहनन ७४-नाराच संहनन ७५-अर्धनाराच संहनन ७६-कीलिका संहनन ७७-सेवार्त संहनन ७८-न्यग्रोध सस्थान ७९-सादि सस्थान ८०-कुब्ज संस्थान ८१-वामन संस्थान और ८२-हुंडक संस्थान ये बयासी पापकर्म की प्रकृतियां हैं।

(१)मन और पांचों इन्द्रियों के सम्बन्ध से जीव को जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं। उस ज्ञान का आवरण अर्थात् आच्छादन 'मतिज्ञानावरणीय' पापकर्म कहलाता है।

(२)शास्त्र को 'द्रव्यश्रुत' कहते हैं। और उसके सुनने या पढ़ने से जो ज्ञान होता है, उसे 'भावश्रुत' कहते हैं। उसका आवरण 'श्रुतज्ञानावरणीय' पापकर्म कहलाता है।

(३)इन्द्रियों की सहायता के बिना आत्मा को रूपी द्रव्य का जो (अतीन्द्रिय) ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं। उसके आवरण को 'अवधिज्ञानावरणीय' पापकर्म कहते हैं।

(४)संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के मन की बात जिस ज्ञान से मालूम होती है, उसे मनःपर्यवज्ञान कहते हैं। उसका आवरण, 'मनः पर्यवज्ञानावरणीय' पापकर्म कहलाता है।

(५)संसार के सारे पदार्थों का पूरा ज्ञान जिससे होता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। उसका आवरण 'केवलज्ञानावरणीय' कहलाता है।

(६)दान से जो लाभ होता है, उसे जानता हो, पास में धन भी

हो सुपात्र भी मिल जाए, लेकिन दान न कर सके, इसका कारण 'दानान्तराय' पापकर्म है,

(७)दान देने वाला उदार है, उसके पास दान की चीजें भी मौजूद हैं, लेनेवाला भी तत्पर है तो भी मांगी हुई चीज न मिले इसका कारण, लाभान्तराय' पापकर्म है।

(८)भोग्य चीजें मौजूद हैं, भोगने की शक्ति भी है, लेकिन नहीं भोग सके; उसका कारण 'भोगान्तराय' पापकर्म है

(९)उपभोग्य चीजें मौजूद हैं, उपभोग करने की शक्ति भी है, लेकिन उपभोग नहीं कर सके, उसका कारण 'उपभोगान्तराय' पापकर्म है। जो चीज एक ही बार भोगी जा सके वह भोग्य कहलाती है। जैसे-पुष्प, फल, भोजन आदि। जो पदार्थ बारबार भोगा जा सके उसे उपभोग्य कहते हैं। जैसे -स्त्री, वस्त्र, आभरण आदि।

(१०)रोग-रहित युवावस्था रहते और सामर्थ्य रहते हुए भी अपनी शक्ति का विकास न कर सके, उसका कारण वीर्यान्तराय पापकर्म है।

(११)आंख से पदार्थों का जो सामान्य प्रतिभास होता है, उसे चक्षुदर्शन' कहते हैं। उसका आवरण 'चक्षुदर्शनावरणीय' पापकर्म कहलाता है।

(१२)नाक, कान,जीभ,त्वचा तथा मन के सम्बन्ध से शब्द, गन्ध रस, और स्पर्श का जो सामान्य प्रतिभास होता है उसे 'अचक्षुदर्शन' कहते हैं, उसका आवरण, ,अचक्षुदर्शनावरणीय' पाप कर्म कहलाता है।

(१३)इन्द्रियों की सहायता के बिना रूपी-द्रव्य का जो सामान्य बोध होता है उसे 'अवधि-दर्शन' कहते हैं। उसका आवरण, 'अवधिदर्शनावरणीय' पापकर्म कहलाता है।

(१४)संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का जो सामान्य अवबोध होता

है, उसे केवलदर्शन कहते हैं। उसका आवरण 'केवलदर्शनावरणीय' पापकर्म कहलाता है।

(१५)सोया हुआ जो आदमी जरासी खटखटाहट से या आवाज से जाग जाता है, उसकी नींद को निद्रा कहते हैं। जिस कर्म से ऐसी नींद आवे उस कर्म का भी नाम 'निद्रा' है।

(१६)जो आदमी, बड़े जोर से चिल्लाने या हाथ से जोर से हिलाने पर बड़ी मुश्किल से जागता है, उसकी नींद को निद्रानिद्रा कहते हैं। जिस कर्म से ऐसी नींद आवे उस कर्म का भी नाम 'निद्रानिद्रा' कहते हैं।

(१७) खड़े-खड़े या बैठे-बैठे ही जिसको नींद आ जाती हो, उसकी नींद को 'प्रचला' कहते हैं। जिस कर्म से ऐसी नींद आवे, उसका नाम 'प्रचला' है।

(१८) चलते-फिरते जिसको नींद आती है, उसकी नींद को प्रचला-प्रचला कहते हैं। जिस कर्म से ऐसी नींद आवे, उसका भी नाम 'प्रचला-प्रचला' है।

(१९) दिन में सोचे हुए काम को रात में नींद की हालत में कभी एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर भी जो कर डालता है, उसकी नींद को 'स्त्यानर्द्धि' कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आवे, उस कर्म को भी 'स्त्यानर्द्धि' कहते हैं। स्त्यानर्द्धि की हालत में उस वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले जीव में वासुदेव के बल से आधा बल होता है।

(२०) जिस कर्म से नीचकुल में जन्म हो, उसे 'नीचगोत्र' पापकर्म कहते हैं।

(२१) जिस कर्म से जीव दुःख का अनुभव करे, उसे 'असाता-वेदनीय' पापकर्म कहते हैं।

(२२) जिस मोहकर्म के उदय से मिथ्यात्व की प्राप्ति हो, उसे 'मिथ्यात्व-मोहनीय' पापकर्म कहते हैं।

मिथ्यात्व का लक्षण है—'अदेवे देवबुद्धिर्या,गुरुधीरगुरौ च या। अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तन्निगद्यते ॥' देवता के गुण जिसमें न हों, उसे देव समझना, गुरु के गुण जिसमें न हों, उसे गुरु मानना और अधर्म को भी धर्म समझना, मिथ्यात्व कहलाता है।

(२३) जिस कर्म से स्थावरशरीर की प्राप्ति हो उसे 'स्थावर नामकर्म' कहते हैं। स्थावर शरीर वाले एकेन्द्रिय जीव गर्मी या सर्दी से चल-फिर न सकने के कारण अपना बचाव नहीं कर सकते।

(२४) जिस कर्म से आंख से दिखाई न दे सकने योग्य शरीर मिले, उसे सूक्ष्म नामकर्म कहते हैं। निगोद के जीव सूक्ष्म शरीर वाले होते हैं।

(२५) जिस कर्म से अपनी पर्याप्ति पूरी किये बिना ही जीव मर जाए उसे अपर्याप्त नामकर्म कहते हैं।

(२६) जिस कर्म से अनन्त जीवों को एक शरीर मिले उसे साधारण नामकर्म कहते हैं जैसे आलू, जमीकन्द आदि के जीव।

(२७) जिस कर्म से कान, भौंह, जीभ आदि अवयव अस्थिर (चपल) मिलें, उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं।

(२८) जिस कर्म से नाभि के नीचे का भाग अशुभ हो, उसे अशुभ नामकर्म कहते हैं।

(२९) जिस कर्म से जीव किसी का प्रीतिपात्र न हो, उसे दुर्भग नामकर्म कहते है

(३०) जिस कर्म से जीव का स्वर सुनने में बुरा लगे, उसे 'दुःस्वर' नामकर्म कहते हैं।

(३१) जिस कर्म से जीव का वचन लोगों में माननीय न हो उसे अनादेय नामकर्म कहते हैं।

(३२) जिस कर्म से लोक में अपयश और अपकीर्ति हो उसे 'अयशः कीर्ति' नामकर्म कहते हैं।

(३३) जिस कर्म से जीव नरक पाता है उसे 'नरकगति' नामकर्म कहते हैं।

(३४) जिस कर्म से जीव नरक में जाता है उसे 'नरकायु'पापकर्म कहते हैं।

(३५) जिस कर्म से जीव को जबर्दस्ती नरक में जाना पड़े उसे नरकानुपूर्वी पापकर्म कहते हैं।

(३६ से ३६) जिस कर्म से जीव को अनन्तकाल तक संसार में घूमना पड़ता है, उसे अनन्तानुबन्धी पापकर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया और अनन्तानुबन्धी लोभ। जीव जब तक जीता है तब तक प्रायः ये बने रहते हैं और अन्त में प्रायः नरकगति होती है।

(४० से ४३) जिस कर्म से जीव को देशविरतिरूप प्रत्याख्यान की प्राप्ति न हो, उसे अप्रत्याख्यानी पापकर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं-अप्रत्याख्यानी, क्रोध, मान, माया और लोभ। इनकी स्थिति एक वर्ष की है। इनके उदय से जीव को अणुव्रत व प्रत्याख्यानादि ग्रहण करने की इच्छा नहीं होती, ऐसे व्यक्ति को मरने पर प्रायः 'तिर्यञ्चगति' मिलती है।

(४४ से ४७) जिसके उदय से 'सर्वविरतिरूप' प्रत्याख्यान की प्राप्ति न हो उसे 'प्रत्याख्यानी' पापकर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं:—प्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया और लोभ। इनकी स्थिति चार महीने की है। ये पापकर्म, 'सर्वविरति' रूप चारित्र के प्रतिबन्धक और मृत्यु होने पर प्रायः मनुष्यगति मिलती है।

(४८ से ५१) जिस कर्म से 'यथाख्यातचारित्र की प्राप्ति न हो उसे 'संज्वलन' पापकर्म कहते हैं। इसके भी चार भेद हैं:—संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ। इनकी स्थिति पंद्रह दिनों की है और मृत्यु होने पर देवगति प्राप्त होती है।

(५२) जिस कर्म से बिना कारण या कारणवश हंसी आवे उसे 'हास्य मोहनीय' पापकर्म कहते हैं।

(५३) जिस कर्म से अच्छे-अच्छे पदार्थों में अनुराग हो उसे'रति-मोहनीय' पापकर्म कहते हैं।

(५४) जिस कर्म से बुरे पदार्थों से नफरत हो, उसे 'अरतिमोहनीय' पापकर्म कहते हैं।

(५५) जिस कर्म से ईष्ट वस्तु का वियोग होने पर शोक हो, उसे 'शोकमोहनीय' पापकर्म कहते हैं।

(५६) जिस कर्म से बिना कारण या कारण वश दिल में भय हो उसे 'भयमोहनीय' पापकर्म कहते हैं।

(५७) जिस कर्म के उदय से दुर्गन्धित या बीभत्स पदार्थों को देख कर घृणा हो, उसे 'जुगुप्सामोहनीय' पापकर्म कहते हैं

(५८) जिस कर्म के उदय से पुरुष के साथ संभोग करने की इच्छा होती है उस कर्म को 'स्त्रीवेद' कहते हैं।

(५९) जिस कर्म के उदय से स्त्री के साथ संभोग करने की इच्छा होती है, उस कर्म को 'पुरुषवेद' कहते हैं।

(६०) जिस कर्म के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ संभोग करने की इच्छा हो, उस पापकर्म को 'नपुंसकवेद' कहते हैं।

(६१) जिस कर्म से तिर्यञ्चगति मिले, उसे 'तिर्यञ्चगति' नामकर्म कहते हैं।

(६२) जिस कर्म से जीव को जबर्दस्ती तिर्यञ्चगति में जाना पड़े उसे 'तिर्यञ्चानुपूर्वी पापकर्म कहते हैं।

(६३) जिस कर्म से जीव को एकेन्द्रिय जाति मिले उसे 'एकेन्द्रियजाति नामकर्म कहते हैं। इसी तरह (६४) द्वीन्द्रिय जाति (६५) त्रीन्द्रिय जाति और (६६) चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्मों को समझ लेना चाहिए।

(६७) जिस कर्म से जीव ऊंट या गधे जैसी अशुभ चाल से चले, उसे 'अशुभविहायोगति' पाप कर्म कहते हैं।

(६८) जिस कर्म से जीव अपने ही अवयवों से दुःखी हो उसे 'उपघात' नामकर्म कहते हैं। वे अवयव प्रतिजिह्वा, कण्ठमाला,

लकवा, छठी अंगुलि आदि हैं।

(६६ से ७२) जिन कर्मों से जीव का शरीर अशुभ वर्ण, अशुभ गन्ध, अशुभ स्पर्श और अशुभ रस वाला हो उनको क्रमशः 'अप्रशस्त वर्ण" "अप्रशस्त गन्ध" "अप्रशस्त स्पर्श" और "अप्रशस्त रस" पाप कर्म कहते हैं। नील और कृष्णवर्ण अशुभ वर्ण हैं। दुर्गन्ध अशुभ गन्ध है, गुरु,खर (तीक्ष्ण)। रूक्ष और शीत स्पर्श अशुभ स्पर्श हैं। तिक्त और कटुरस अशुभ रस हैं

(७३ से ७७) जिन कर्मों से जीव को प्रथम संहनन को छोड़ कर अंतिम पांच संहननों की प्राप्ति हो, उन्हें अप्रथमसंहनन नाम पाप-कर्म कहते हैं। वे पांच अप्रथम संहनन ये हैं:—ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका और सेवार्त्त। इन्हें पापकर्म समझना चाहिये (१) हड्डियों की सन्धि में दोनों ओर से मर्कटबन्ध और उन पर लपेटा हुआ पट्टा हो लेकिन कील न हो, वह ऋषभनाराच संहनन है। (२) दोनों ओर केवल मर्कटबन्ध हो, वह नाराच संहनन होता है। (३) एक ओर मर्कटबन्ध तथा दूसरी तरफ कील हो तो अर्धनाराच संहनन होता है। (४) मर्कटबन्ध न हो कर केवल कील से हड्डियाँ जुड़ी हो तो कीलिका संहनन होता है। (५) कील न हो कर यों ही केवल हड्डियां आपस में जुड़ी हों तो 'सेवार्त्त' सहनन होता है। (७८ से ८२) जिन कर्मों से पहले संस्थान को छोड़ कर अन्तिम पांच संस्थानों की प्राप्ति हो उन्हें 'अप्रथम संस्थान' नामकर्म कहते हैं। वे पांच अप्रथम संस्थान ये हैं:—न्यग्रोधपरि-मण्डल, सादि कुब्जक. वामन और हुंडक। वड़ के वृक्ष को न्यग्रोध कहते हैं। वह जसे उपर से पूर्ण और नीचे से हीन होता है, वैसे ही जिस जीव के नाभि का उपरी भाग पूर्ण और नीचे का हीन हो तो न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान समझना चाहिए। नाभि के नीचे का भाग पूर्ण हो और ऊपर का हीन हो तो सादि संस्थान समझना।

हाथ, पैर, सिर आदि अवयव ठीक हों और पेट तथा छाती हीन हों तो कुब्ज संस्थान समझना। छाती और पेट का परिमाण ठीक हो और पैर, सिर आदि छोटे हों तो वामन संस्थान समझना। शरीर के सब अवयव हीन हों तो हुंडक संस्थान समझना। इस तरह पाप-कर्म की ८२ अशुभ प्रकृतियां हैं। अब आस्रव और संवर का निरूपण करते हैं—

**योगः शुद्धः पुण्यास्रवस्तु पापश्च तद्विपर्ययः।**
**वाक्कायमनोगुप्तिर्निरास्रवः संवरस्तूक्तः ॥२२०॥**

शुद्ध, मन वचन और काया के योग (व्यापार) से पुण्यकर्म का आस्रव होता है। उससे विपरीत हो वह पाप-आस्रव होता है। वचनगुप्ति, कायगुप्ति और मनगुप्ति के द्वारा आस्रव को रोकना संवर कहलाता है।

आ समन्तात् स्रवः (श्रवः, इति आस्र(श्र)वः अर्थात् चारों ओर से जहां कर्मों का आगमन हो, वह आस्रव (आश्रव) कहलाता है। नवतत्व के भाष्यकार आस्रव का अर्थ करते हैं— 'आस्रीयते उपादीयते इति आस्रवः' जिससे कर्म ग्रहण किये जाते हों, उसे आस्रव कहते हैं। अथवा 'आश्राति आदत्ते कर्म यैस्ते आश्रवाः' अर्थात् आत्मा जिनके जरिये कर्मों को ग्रहण करता है—उन्हें भी आश्रव कहते हैं। 'आश्रीयते कर्म एभिरिति आश्रवाः' जिसके द्वारा आत्मा कर्मों का उपार्जन करता है, वे आश्रव कहलाते हैं। आ समन्तात् श्रवति क्षरति जलं (कर्मजलं) सूक्ष्मरन्ध्रेषु यैस्ते आश्रवाः'। आत्मा में जिन सूक्ष्मछिद्रों (दोषों) से कर्मरूपी जल भर जाता है, प्रविष्ट हो जाता है, उन्हें भी आश्रव कहते हैं। जिस प्रकार नाव में सूक्ष्म छिद्र होने पर वह समुद्र में डूब जाती है। चूंकि छिद्र वाली नाव में पानी आये बिना रहता नहीं हैं, अतः उसका डूबना अशक्य नहीं है। इसी

तरह हिंसा आदि छिद्रों (दोषों) से जीवरूपी नाव में कर्मरूपी जलों का आना संभवित है। अतः डूबने में कोई सन्देह नहीं है। आस्रव शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। जिनको क्रमशः पुण्यास्रव और पापास्रव के नाम से पुकारा जाता है। पांच इन्द्रियां, चार कषाय, पांच अव्रत, तीन योग और पच्चीस क्रियाएं, ये आस्रव के बयालीस भेद हैं।

जो आस्रव को रोके, वह संवर कहलाता है। जिसके द्वारा आते हुए कर्म रुक जाएं, उस मार्ग को संवर कहते हैं। इस दृष्टि से व्रत. प्रत्याख्यान, समिति, गुप्ति आदि संवर कहलाते हैं। 'संव्रियते कर्मकारणं प्राणातिपातादि निरुध्यते येन परिणामेनाऽसौ संवर.' जिस परिणाम से कर्म और कर्म के कारण हिंसा आदि बुराईयों का अवरोध हो जाता है, उसे संवर कहते हैं। पांच समिति, तीन गुप्ति, बाईस परीषह, दस प्रकार का श्रमणधर्म, बारह भावना और पांच प्रकार का चारित्र, ये संवर के सत्तावन भेद हैं।

**संवृतस्य तप उपधानं तु निर्जरा कर्मसन्ततिर्बन्धः।**
**बन्धवियोगो मोक्षस्त्विति संक्षेपान्नव पदार्थाः ॥२२१॥**

संवरयुक्त जीव के द्वारा (पूर्वसंचित कर्मों के क्षय के लिए) तपस्या धारण करना, तपश्चरण(तप उपधान) करना निर्जरा कहलाता है, कर्म की परम्परा को बन्ध कहते हैं। बन्ध का सर्वथा वियोग (सर्वथा अभाव) मोक्ष है। इस तरह संक्षेप से नव पदार्थों का निरूपण किया है।

आश्रवद्वारों को रोक कर शक्ति के अनुसार तपस्या करने से नये कर्मों के बन्ध नहीं होते और पूर्वसंचित कर्मक्षय होने लगते हैं। इस पद्धति का नाम तप-उपधान है। इसे ही निर्जरा कहते हैं। जिस प्रकार संसार के सभी सुखों की प्राप्ति होने पर शय्या का आनन्द

तकिये के आधार बिना नहीं मिलता। बिना तकिये की शय्या मिलने पर सुख की क्षति मानी जाती है। उसी तरह आगामी कर्मव्यापारों को रोक देने पर भी तपरूपी-उपधान का सहारा नहीं लिया जाय तो निजरा का आनन्द नहीं आता। इसलिए ग्रन्थकार भगवान् ने जीवन में तप के उपधान (धारण करने) को निर्जरा का मूल कारण कहा है।

निर्जरा शब्द का अर्थ इस प्रकार है—'निर्ज्जरणं विशरणं परिशाटनमिति निर्जरा'। अर्थात् कर्मों का बिखर जाना, झड़ जाना और विनष्ट हो जाना निर्जरा है। इसलिये मोक्षतत्व भी कर्म-निर्जरा का पूर्वरूप माना गया है। प्रथम कहे हुए बारह प्रकार के तप ही निर्जरा के बारह भेद हैं।

आत्मा सर्वथा निष्क्रिय नहीं रह सकता है; क्योंकि अनादि काल के (भावतत्व) बन्धों के कारण कुछ न कुछ करता ही रहता है, उसी क्रिया का नाम कर्मबन्ध है। कर्म जब आत्मा के साथ दूध और पानी की तरह परस्पर घुलमिल जाते हैं तब उस कर्म-आत्मा के सम्बन्ध या संयोग को बन्धन कहते हैं। यह बन्ध की परम्परा का दूसरा नाम है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये बन्ध के चार भेद हैं।

जीव के पूर्वापर बन्धों का सर्वथा क्षीण हो जाना मोक्ष कहलाता है। कर्मग्रन्थों के अनुसार १२२ कर्मप्रकृतियों का सर्वथा क्षीण हो जाना मोक्ष कहा जाता है। ये ही संक्षेप में नवपदार्थ (तत्व) कहलाते हैं।

**एतेष्वध्यवसायो योऽर्थेषु विनिश्चयेन तत्त्वमिति।**
**सम्यग्दर्शनमेतच्च तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥२२२॥**

इन नौ पदार्थों के विषय में निश्चयपूर्वक यही तत्व (सत्य) है, इसी तरह के अध्यवसाय को सम्यग्दर्शन कहते हैं। वह सम्यग्दर्शन स्वभाव से अथवा गुरुमहाराज आदि के उपदेश या प्रेरणा से होता है।

**शिक्षागमोपदेशश्रवणान्येकार्थकान्यधिगमस्य ।**
**एकार्थः परिणामो भवति निसर्गः स्वभावश्च ॥२२३॥**

शिक्षा, आगमोपदेश और धर्म श्रवण ये अधिगम (गुरु आदि के उपदेश) के पर्यायवाची हैं, एकार्थक हैं। तथा परिणाम, निसर्ग और स्वभाव ये सभी एकार्थवाचक हैं।

संसार में भ्रमण करता हुआ जीव मिथ्यात्वरूपी ग्रन्थिस्थान को प्राप्त करके अपूर्वकरण नामक परिणामों के द्वारा उस ग्रन्थि का भेदन करता है। उसके पश्चात् जीव अपने शुभ परिणामों की विशुद्धता से; कर्मों की क्षयोपशमता से और औधिक रूप से अच्छी प्रवृत्ति से सम्यक्त्वरत्न की प्राप्ति करता है। सम्यग्दर्शन दो प्रकार से प्राप्त होता है—निसर्ग (स्वाभाविकरूप) से और अधिगम (गुरु आदि के उपदेश के निमित्त) से। जैसे कोई मनुष्य रास्ता भूल जाने पर स्वाभाविक रूप से घूमता-घामता अपना असली मार्ग पा जाता है। किन्तु किसी को उस मार्ग के जानकार लोगों से पूछने पर जब वे बताते हैं, तब सही रास्ते का पता लगता है। वैसे ही कोई जीव सम्यग्दर्शनरत्न की प्राप्ति परिणामों की विशुद्धिता के कारण सहज स्वाभाविक रूप से कर लेता है, किसी को गुरु आदि के उपदेश सुनने पर उसी तरह आचरण करते हुए परिणामविशुद्धि (होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति) होती है। मगर किसी भी तरीके से सम्यग्दर्शन प्राप्त हो, सभी हालतों में परिणामों की विशुद्धता अनिवार्य है। उसके बिना सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता। राग-

द्वेष ज्यों-ज्यों कम होते जायेंगे, त्यों-त्यों परिणामों की विशुद्धता उत्तरोत्तर अधिकाधिक होती जायगी।

**एतत्सम्यग्दर्शनमनधिगमविपर्ययौ तु मिथ्यात्वम् ।**
**ज्ञानमथ पञ्चभेदं तत् प्रत्यक्षं परोक्षं च ॥२२४॥**

ऊपर बताये अनुसार प्राप्त होने वाली चीज सम्यग्दर्शन है। इसके विपरीत जहां परिणामों की विशुद्धि न होने से मन में अश्रद्धा के कारण संशय रखकर या गुरु (मार्गदर्शक) आदि के उपदेश का अनादर करके कोई चीज प्राप्त होती हो, वहां वह मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन है। प्रत्यक्ष और परोक्षरूप से ज्ञान पांच प्रकार का है।

**तत्र परोक्षं द्विविधं श्रुतमाभिनिबोधकं च विज्ञेयम्।**
**प्रत्यक्षं चावधिमनःपर्यायौ केवलं चेति ॥२२५॥**

उन पांच प्रकार के ज्ञानों में परोक्षज्ञान दो प्रकार का है—श्रुतज्ञान और मतिज्ञान। और प्रत्यक्षज्ञान तीन प्रकार का है—अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान तथा केवलज्ञान।

आमगज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध आदि सब एकार्थक हैं। यानी मतिज्ञान के ही पर्यायवाची हैं ये दोनों ज्ञान परोक्ष हैं, शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

**एषामुत्तरभेदविषयादिभिर्भवति विस्तराधिगमः ।**
**एकादीन्येकस्मिन् भाज्यानि त्वाचतुर्भ्य इति ॥२२६॥**

उन पांच ज्ञानों के उत्तरभेद और विषय आदि को लेकर इनका विस्तार समझ लेना चाहिए। एक आत्मा में एक से लेकर चार ज्ञान हो सकते हैं।

पांचों ज्ञानों के भेद-प्रभेद का बहुत ही लम्बा विस्तारहै। जैसे कि-मतिज्ञान के दो भेद हैं:—इन्द्रियनिश्रित और अनिन्द्रियनिश्रित। फिर अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से यह चार प्रकार का है। ये चारों ज्ञान पांचों इन्द्रियों और मन से उत्पन्न होते हैं। अतः मतिज्ञान के ४×६=२४ भेद हुए। फिर अवग्रह आदि के बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, अनुक्त, ध्रुव, एक, एकविध चिर, निःसृत, उक्त और अध्रुव इन १२ भेदों को लेकर २४×१२=२२८ भेद होते हैं। अवग्रह के भी दो भेद हैं—अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह। व्यञ्जनावग्रह चक्षुइन्द्रिय और मन को छोड़ कर शेष चार इन्द्रियों से होता है। इसलिए बहु, बहुविध आदि बारह भेदों को ४ से गुणा करने पर १२×४=४८ भेद व्यञ्जनावग्रह मतिज्ञान के होते है। पूर्वोक्त २२८ भेदों में इन ४८ भेदों को जोड़ने पर मतिज्ञान के ३३६ भेद होते हैं। श्रुतज्ञान के भी मुख्य दो भेद हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। (१) आचारांग (२) सूत्रकृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) भगवतीसूत्र (६) ज्ञातासूत्र (७) उपासकदशांग (८) अन्तकृद्दशांग (९) अनुत्तरोपपातिकसूत्र (१०) प्रश्नव्याकरणसूत्र (११) विपाकसूत्र और (१२) दृष्टिवाद; ये बारह अंगप्रविष्ट के भेद हैं। अंगबाह्य के १२ उपांगसूत्र, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यकसूत्र आदि अनेक भेद हैं। अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है:—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय (क्षयोपशमजन्य)। नारक और देवता को भव (जन्म) से ही अवधिज्ञान होता है। किन्तु मनुष्यों और तिर्यञ्चों को क्षयोपशम के कारण से हो सकता है। फिर वह ६प्रकार का है--अनुगामि-अननुगामि, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाति, अप्रतिपाति। अवधिज्ञान की असंख्यात पर्यायें होती हैं, इसलिए वह असंख्यात प्रकार का भी है। तथा यह ज्ञान रूपीद्रव्यों को ही जान सकता है। मनःपर्याय ज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति नाम के दो भेद हैं। ऋजुमति से

विपुलमति विशुद्धतर और अप्रतिपाति होता है। अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान में विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय के कारण विशेष तरतमता (न्यूनाधिकता) है। अवधिज्ञान से मनःपर्यायज्ञान विशुद्धतर है। अवधिज्ञान सर्वलोक-सर्वक्षेत्र-व्यापि है; जबकि मनःपर्याय ज्ञान का क्षेत्र मनुष्यमात्र है। अवधिज्ञान सभी गतियों केजीवों को होता है, जबकि मनःपर्यायज्ञान संयमी मनुष्य को ही होता है। अवधिज्ञान के द्वारा जानने का जो विषय होता है, उसका अनन्तवां हिस्सा मनःपर्यायज्ञान के जानने का विषय है। केवलज्ञान का विषय विश्व के सर्वद्रव्यों और सर्वपर्यायों को जानन है। इसका कोई भेद नहीं हैं। इस तरह भेदों और विषय की अपेक्षा से पांचों ज्ञानों का विस्तार से बोध होता है।

इन पांचों ज्ञानों में से एक जीव को एक से लेकर चार ज्ञान तक होते हैं। जहां एक ज्ञान हो, वहां केवलज्ञान होता है। दो ज्ञान हों, वहां मतिज्ञान, ज्ञानश्रुत होते हैं। तीन ज्ञान हों,वहां मति, श्रुत और अवधिज्ञान होते हैं और जहां चार ज्ञान हों, वहां मति, श्रुत अवधि और मनःपर्यायज्ञान होते हैं। परन्तु एक साथ पांचों ज्ञान नहीं होते, क्योंकि पांचवां केवलज्ञान होने पर चार ज्ञानों का अस्तित्व उसी में विलीन हो जाता है। अतः केवलज्ञान अकेला ही प्रकाशमान होता है।

कहीं पर जघन्य से अकेला मतिज्ञान ही होता है, वहां अक्षरश्रुत ज्ञान का अभाव होता है। परन्तु ऐसा विधान सर्वत्र नहीं है।

**सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमिति नियमतः सिद्धम्।**
**आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम् ॥२२७॥**

यह नियम से सिद्ध है कि सम्यग्दृष्टि जीव का ज्ञान होता है, वह

सम्यग्ज्ञान ही होता है और मिथ्यात्व से युक्त होने पर प्रथम के तीनों ज्ञान (मति, श्रुत और अवधिज्ञान) होने पर भी वे मिथ्या ज्ञान हो जाते हैं। तत्वरूप (सत्य) पदार्थों पर श्रद्धा करना सम्यग् दृष्टि या सम्यग्दर्शन कहलाता है। दर्शन अथवा (श्रद्धा) दृष्टि के सम्यक् होने का मूल ज्ञान है। क्योंकि ज्ञान के बिना श्रद्धा टिक नहीं सकती। सम्यग्दर्शन होने के बाद ही वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। किसी को नव पूर्व तक का विशाल ज्ञान हो, परन्तु सम्यग्दर्शन का अभाव हो तो वह सारा ज्ञान अज्ञानरूप ही होता है। केवल अष्ट प्रवचनमाता (५ समिति, तीन गुप्ति) का ही सम्यक्रूप से ज्ञान हो और स्वपर का विवेक हो अर्थात जो आत्मा है वही मैं हूं बाकी के समस्त परपदार्थ हैं; इतनी श्रद्धा से युक्त हो, वह महाज्ञानी कहलाता है। सम्यग्दृष्टि के अभाव में मिथ्यादृष्टि (मिथ्यात्व) रहती है। जैसे, कोई शराबी मनुष्य शराब के नशे में स्त्री को माता और माता को स्त्री कहता है, वह कदाचित् माता को माता और स्त्री को स्त्री भी कह देता हो, लेकिन उसे होश (वास्तविक भान) नहीं माना जाता। वैसे ही मिथ्यादृष्टि जीव को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है, परन्तु बेहोश व अज्ञान (बेभान) रूपी बेहोशी से युक्त (परिणत) रहता है। अर्थात् वह मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान होता है। कितने ही शास्त्र क्यों न पढ़ा हो, लेकिन यदि उसकी दृष्टि (दर्शन) सम्यक् नहीं है तो उसका सारा ज्ञान अज्ञानरूप कहलाता है। शास्त्र पढ़ने से कल्याण नहीं होता। शास्त्र तो केवल दिशा बताता (मार्गदर्शन करता) है। आंतरिक स्वरूप का प्राप्ति और भेदविज्ञानयुक्त आत्मदर्शन तो सम्यग्दृष्टि से ही होता है और वही उस ज्ञान को सम्यग्ज्ञान निश्चित सिद्ध करता है।

**सामायिकमित्याद्यं छेदोपस्थानं द्वितीयं तु ।**
**परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मसम्परायं यथाख्यातम् ॥२२८॥**

**इत्येतत् पञ्चविधं चारित्रं मोक्षसाधनं प्रवरम् ।**
**अनेकैरनुयोगनयप्रमाणमार्गैः समनुगम्यम् ॥२२९॥**

पहला सामयिक, दूसरा छेदोपस्थापन, तीसरा परिहारविशुद्धि, चौथा सूक्ष्मसम्पराय और पांचवां यथाख्यात ये पांच चारित्र के भेद हैं। यह पांच प्रकार का चारित्र मोक्ष का श्रेष्ठ साधन है। अनेक अनुयोगद्वारों से नयों और प्रमाणों के द्वारा चारित्र को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

(१) सामायिक चारित्र—सम अर्थात् ज्ञान दर्शन और चारित्र का, आय अर्थात् लाभ (प्राप्त) समाय है। जो आचरण ऐसे समाय (समभाव के लाभ) वाला हो, उसे सामायिक चारित्र कहते हैं। व्याकरण के नियमानुसार 'समाय' शब्द के साथ 'तद्धित' का इक प्रत्यय लगने से सामायिक शब्द बनता है। अनादिकाल से आत्मा विषमस्थिति में चल रहा है, उसे समस्थिति में चलाने का साधन होने से इसे सामायिकचारित्र कहते हैं। इसमें आत्मा अपनी स्थिति (अपने निज गुणों) में रहता है। सामायिकचारित्र आत्मा को समस्थिति में जाग्रत रखने की साधना है। सामायिक चारित्र के दो भेद हैं—इत्वरकथित और यावत्कथित। श्रावक के शिक्षाव्रत में सामायिक पौषध, प्रतिक्रमण आदि साधनाएं इत्वरकथित सामायिकचारित्र है। और दीक्षा से लेकर यावज्जीव तक सामायिक की साधना को यावत्कथित सामायिकचारित्र कहते हैं।

(२) छेदोपस्थापनीय चारित्र—पूर्व चारित्रपर्याय का किसी बड़े अपराध या दोष के कारण प्रायश्चित्त के रूप में छेदन (कटौती)

करके महाव्रतों का उपस्थापन (आरोपण) करना, छेदोपस्थापन चारित्र कहलाता है। इस चारित्र के दो भेद हैं- सातिचार छेदोपस्थापनिक और निरतिचार छेदोपस्थापनिक। किसी मुनि ने मूलगुणों (महाव्रतों) का घात(भंग) किया हो तो अब तक पाला हुआ उसका दीक्षापर्याय उस दोष के प्रायश्चित्त के रूप में छेद (काट) कर उसे पुनः चारित्र-उच्चारण कराना या महाव्रत का स्थापन करना छेद-प्रायश्चित्त वाला सातिचार छेदोपस्थापनिक चारित्र कहलाता है। बड़ी दीक्षा देने के बाद का चारित्र अथवा एक तीर्थंकर के साधु दूसरे तीर्थंकर के शासन में जाना; जैसे श्री पार्श्वनाथ प्रभु के मुनियों ने चातुर्यामरूप शासन को छोड़ कर श्री भ०महावीर के पंच महाव्रत वाले शासन को अंगीकार किया था; इस प्रकार का एक तीर्थंकर के साधुओं का दूसरे तीर्थंकर के शासन में जाने के रूप (तीर्थ सक्रान्ति-रूप) में जो चारित्र होता है, वह निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र है। यह चारित्र भरत आदि १० क्षेत्रों में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन में होता है। किन्तु बीच के २२ तीर्थंकरों के शासन में और महाविदेह में सर्वथा नहीं होता।

(३) परिहारविशुद्धिचारित्र--परिहार अर्थात् त्याग (गच्छ के त्यागपूर्वक तप) और विशुद्धि का अर्थ है विशेष शुद्ध जिस साधना का स्वीकार करके आत्मा की विशेष शुद्धि की जाय उसे परिहारविशुद्धि चारित्र कहते हैं। इस चारित्र को स्वीकार करने की विधि यह है कि इसकी साधना करने वाले एक साथ ९ साधु तैयार होते हैं। वे सर्व-प्रथम स्थविरकल्पी (मुनियों के) गच्छ को छोड़ कर गुरु-आज्ञा से केवली भगवान्, गणधर या जिन्होंने पहले कभी परिहारकल्प स्वीकार किया हो, उनके पास जाकर परिहारकल्प का अंगीकार करते हैं। तत्पश्चात् उन ९ मुनियों में से चार मुनि परिहारक होते हैं। अर्थात् ६ मास तक तप करते हैं और दूसरे चार साधु ६ महीने तक उन तपस्वी साधुओं की वैयावृत्य (सेवा) करते हैं और

उनमें जो सबसे ज्ञानी हो वह एक साधु वाचनाचार्य गुरु (मार्ग-दशक) बनता है। जबसे मास पूर्ण हो जाते हैं तो वैयावृत्य करने वाले मुनि तपस्या करते हैं, और तपस्वी मुनि वैयावृत्य करते हैं। इसी तरह दूसरे छह मास के तप पूर्ण होने पर वाचनाचार्य स्वयं छह मास तक तप करता है। इस तरह १८ महीने में यह परिहार-विशुद्धिचारित्र के तप (साधना) का कल्प पूर्ण होता है।

परिहारक साधुओं की तपस्या का क्रम इस प्रकार का रहता है-वे ग्रीष्मकाल में जघन्य एक उपवास मध्यम दो उपवास और उत्कृष्ट तीन उपवास करते हैं। शिशिरकाल में जघन्य दो उपवास, मध्यम तीन उपवास और उत्कृष्ट चार उपवास करते हैं और वर्षा काल में जघन्य तीन उपवास, मध्यम चार उपवास और उत्कृष्ट पांच उपवास करते हैं। चार परिहारक साधुओं के तपस्याकाल में अनुपरिहारी (वैयावृत्य करने वाले ४ साधु) तथा वाचनाचार्य तो सदा आयंबिल करते रहते हैं। किन्तु उनका जब तप-प्रवेश का समय आता है, तब वे पूर्वोक्त तपस्या करते हैं।

इस परिहार कल्प की साधना १८ मास में पूर्ण करने के बाद इसमें उत्तीर्ण हुआ मुनि उसी परिहारकल्प को पुनः स्वीकार कर सकता है। अथवा जिनकल्पी जिसमें जिनेन्द्र भगवान् का अनुसरण किया जाय ऐसा केवल उत्सर्ग-मार्गी व उत्कृष्टक्रिया वाले कल्प की साधना को स्वीकार करता है। अथवा स्थविरकल्पी साधना वाले (अपवाद की समाचारी वाले) गच्छ में प्रवेश करता है। इस कल्प को वही साधु अंगीकार कर सकता है, जो साधक प्रथम संघयणी (वज्रऋषभनाराचसंहनन वाला) पूर्वधर लब्धि वाला हो। तथा नपुंसकवेदी, पुरुषवेदी और स्त्रीवेदी न हो। इस साधना को स्वीकार किये हुए मुनि अपनी आंख में पड़े हुए तिनके को भी अपने हाथ से नहीं निकालते, अपवादमार्ग को नहीं अपनाते।

आहार के लिये सिर्फ तीसरे प्रहर में भिक्षाचरी करने जाते हैं; भिक्षाचरी के अतिरिक्त समय में कायोत्सर्ग में रहते हैं; ये किसी को दीक्षा नहीं देते परन्तु उपदेश दे सकते हैं; नये शास्त्रों का अध्ययन नहीं करते; किन्तु पहले पढ़े हुए शास्त्रों का स्मरण चिन्तन करते हैं। यह चारित्र प्रथम कहे हुए दो चारित्रों से विशुद्धतर जानना चाहिये। सामायिकचारित्री व छेदोपस्थानीयचारित्री के अध्यवसायों से भी परिहारविशुद्धि चारित्र वाले मुनि का अध्यवसाय क्रमशः असंख्यलोक के प्रदेशप्रमाण से भिन्न तथा क्रमशः अधिक विशुद्ध जानना चाहिए

(४) सूक्ष्मसंपराय चारित्र—सूक्ष्म अर्थात् पूर्णरूप से अतिजघन्य संपराय यानी लोभकषाय जिस चारित्र में क्षय हो जाय, उसे सूक्ष्मसंपरायचारित्र कहते हैं। केवल सूक्ष्म संज्वलन लोभ का अंश हो, अन्य कषायों का सर्वथा क्षय हो जाये, तब १० वाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। सूक्ष्मसंपराय चारित्र के दो भेद हैं—उपशम श्रेणीपतन होने के कारण जो चारित्र होता है, वह संक्लिश्यमान सूक्ष्म संपराय चारित्र कहलाता है और जहां क्षपक श्रेणी की ओर उत्थान (उठने) के लिए साधक के उच्च गुणस्थान में चढ़ती हुई दशा का अध्यवसाय होता है वहां विशुद्ध्यमान सूक्ष्मसंपराय चारित्र होता है।

(५) यथाख्यात चारित्र--यथा अर्थात् जैनशास्त्र में जैसा, ख्यात यानी कहा है, उस तरह का सम्पूर्ण चारित्र यथाख्यात चारित्र कहलाता है। अथवा यथा यानी यथार्थरूप से समस्त जीवलोक में जो ख्यात यानी प्रसिद्ध हो; उसे भी यथाख्यात चारित्र कहते हैं। कषाय क्षीण होने के बाद ११ वें से १४ वें गुणस्थान तक यह चारित्र रहता है। इसे वीतरागचारित्र भी कहते हैं। यह चारित्र अष्टकर्मों को नष्ट करने वाला है और मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है। अतः जिज्ञासुजनों को इन चारित्र का अनेक अनुयोगद्वारों तथा

अनेक नयों व प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों से सम्यक्ज्ञान कर लेना चाहिये।

**सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्रसम्पदः साधनानि मोक्षस्य।**
**तास्वेकतराऽभावेऽपि मोक्षमार्गोऽप्यसिद्धिकरः ॥२३०॥**

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्ररूपी सम्पत्तियां (तीनों मिला कर) मोक्ष का साधन होती हैं। इनमें से एक का भी अभाव हो तो मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होता।

सम्यग्दर्शन से दृढ़श्रद्धापूर्वक निश्चित करना, ज्ञान से जानना और चारित्र से उसी तरह आचरण करना होता है। इसी तरह प्रवृत्ति करने से सरलता से वस्तु की प्राप्ति हो जाती है। व्यावहारिक कार्यों में भी इन तीनों की जरूरत होती है। जैसे किसी व्यक्ति को कहीं जाना हो सर्वप्रथम उस स्थान का निश्चय होता है। उसके बाद उस स्थान के बारे में पूरी जानकारी की जाती है, उसके पश्चात् उस स्थान पर जाने की एवं उस मार्ग पर चलने की क्रिया करनी पड़ती है। तभी वह अपने ईष्ट स्थान पर पहुंच सकता है। वैसे ही कर्मों से मुक्त होने के लिए प्रथम दर्शन से उसका विश्वासपूर्वक निर्णय करना होता है, बाद में मुक्त होने के लिए मार्ग का ज्ञान प्राप्त करना होता है; फिर चारित्र से उसी तरह क्रिया करनी पड़ती है। अतः इन तीनों के मिलने से मोक्षरूप कार्य होता है। उदाहरणार्थ- श्रद्धा और ज्ञान से आपने जान लिया कि इस वस्तु को खाने से भूख मिट जायगी, पेट भर जायगा और शक्ति आयेगी। परन्तु वस्तु पर श्रद्धा और उसका ज्ञान होने पर भी यदि उसके खाने की क्रिया आप न करेंगे तो न भूख मिटेगी,न पेट भरेगा और न ही शक्ति आयेगी। अतः इन तीनों में से एक की भी न्यूनता (कमी) होगी, वहां तक वह कार्य पूर्णरूप से नहीं होगा। इन कारणों से ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों को मिल कर मोक्षमार्ग का साधन बताया गया है।

**पूर्वद्वयसम्पद्यपि तेषां भजनीयमुत्तरं भवति ।**
**पूर्वद्वयलाभः पुनरुत्तरलाभे भवति सिद्धः ॥२३१॥**

पहले के दो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर किसी को चारित्र प्राप्त होता है और किसी को नहीं होता है परन्तु उत्तमचारित्र प्राप्त होने पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अवश्यमेव (नियम से) होते हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना उत्तम चारित्र की प्राप्ति नहीं होती।

**धर्मावश्यकयोगेषु भावितात्मा प्रमादपरिवर्जी ।**
**सम्यक्त्वज्ञानचारित्राणामाराधको भवति ॥२३२॥**

भव्य आत्मा क्षमा आदि दशविध धर्म और आवश्यक योग (क्रिया) में प्रमाद को छोड़ने पर सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का आराधक हो सकता है।

**आराधनाश्च तेषां तिस्रस्तु जघन्यमध्यमोत्कृष्टाः ।**
**जन्मभिरष्टत्र्येकैः सिध्यन्त्याराधकास्तासाम् ॥२३३॥**

उन सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रत्नत्रयी) की जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीन प्रकार से आराधना होती है। इस रत्नत्रयी के जघन्य आराधक आठ भवों (जन्मों) में, मध्यम-आराधक तीन भवों में, और उत्कृष्ट आराधक एक भव में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाते हैं।

**तासामाराधनतत्परेण तेष्वेव भवति यतितव्यम् ।**
**यतिना तत्परजिनभक्त्युपग्रहसमाधिकरणेन ॥२३४॥**

उन तीनों रत्नों की आराधना के लिए उद्यत साधक को अहर्निश उन्हीं की साधना में तत्पर होने के लिए जिनेश्वर भगवान् की भक्ति, रत्नत्रयी की आराधना में संलग्न मुनियों का सेवा (वस्त्र-पात्र-भक्तपान आदि से)तथा समाधि (सुखसाता) पहुंचाने में प्रयत्न करना चाहिये।

**स्वगुणाभ्यासरतमतेः परवृत्तान्तान्धमूकबधिरस्य ।**
**मदमदनमोहमत्सररोषविषादैरधृष्यस्य ॥२३५॥**
**प्रशमाव्याबाधसुखाभिकांक्षिणः सुस्थितस्य सद्धर्मे ।**
**तस्य किमौपम्यं स्यात् सदेवमनुजेऽपि लोकेऽस्मिन् ॥२३६**

जिसकी बुद्धि आत्मगुणों के अभ्यास में लगी हुई है; दूसरों के वृत्तान्त (व्यापार-व्यवहार) को देखने, कहने और सुनने के लिए जो अन्धा, गूंगा और बहरा बन जाता है, तथा मद, काम, मोह, मत्सर, रोष और विषाद से जो अभिभूत (पराजित) नहीं होता। जो प्रशमसुख और अव्याबाध मोक्षसुख का अभिलाषी है, तथा शुद्ध सद्धर्म (सत्य, अहिंसा आदि) में सुस्थिर मुनि है; उसे देवों, मनुष्यों से युक्त सकललोक में किससे उपमा दी जा सकती है ? अर्थात् उसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती है, वह सर्वोपरि महात्मा है।

जो अपने आत्मिक गुणों (सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र आदि गुणों) की आराधना में सदा तत्पर रहता है; कोई कहता है तो उसकी बात पर कान नहीं लगाता। वह तो अपनी आराधना में ही मस्त रहता है। परन्तु वह किसी बात का अभिमान नहीं करता, मन को कामवासना की ओर नहीं जाने देता, संसारिक मोह-माया से अलग रहता है, दिल में कभी क्रोध नहीं लाता, न ही रोष करता है। और विपत्ति आने पर खिन्न नहीं होता, वह तो केवल प्रशमसुख और मोक्षसुख की ही इच्छा करता है और अपने रत्नत्रयरूप सद्धर्म की आराधना में ही दृढ़तापूर्वक जुटा रहता है; ऐसे भाग्यशाली महामुनि को कौन-सी उपमा दी जाय ? क्योंकि इस लोक में देव और मनुष्य या अन्य कोई भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता। उसे किसी की भी उपमा देना असंभव है।

**स्वर्गसुखानि परोक्षाण्यत्यन्तपरोक्षमेव मोक्षसुखम् ।**
**प्रत्यक्षं प्रशमसुखं न परवशं न व्ययप्राप्तम् ॥२३७॥**

स्वर्ग का सुख परोक्ष है, मोक्ष का सुख तो अत्यन्त परोक्ष ही है, परन्तु प्रशमसुख तो प्रत्यक्ष है। वह न पराधीन है और न ही विनाशी है और न उसमें किसी प्रकार धन आदि का खर्च है। उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में यही बात कही है—

दूरे स्वर्गसुखं मुक्तिपदवी सा दवीयसी ।
मनःसंनिहितं दृष्टं स्पष्टं तु समतासुखम् ॥

समता-अधिकार १३ श्लोक

इसी तरह वैराग्यकल्पलता में भी कहा है—

नूनं परोक्षं सुरसद्मसौख्यं मोक्षस्य चात्यन्तपरोक्षमेव ।
प्रत्यक्षमेकं समतासुखं तु समाधिसिद्धानुभवोदयानाम् ॥

प्रथम स्तबकः २३५ श्लोक

**निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।**
**विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥२३८॥**

जिन्होंने मद और मदन (काम) को सर्वथा जीत लिया है; जो वचन, काया और मन के विकारों से रहित है; जो दूसरों से किसी भी प्रकार की आशा स्पृहा नहीं रखते, ऐसे सुविहित साधुओं के लिए तो यहां मोक्ष है।

जिन्होंने आठ मदों और कामवासना पर विजय प्राप्त कर ली है। आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा आदि का त्याग करके जो मौन रखते हैं, अथवा बोलना भी हो तो सत्य, पथ्य, हित और परिमित बोलते हैं, उपसर्गों (आफतों) के प्रसंग पर भी

जिनकी काया ध्यान में अडोल रहती है और जिनका मन आत्मभाव में रमण कर रहा है; किसी भी प्रकार के विकल्प जिनके मन में नहीं हैं। यानी जो इस तरह वचन, काया और मन के तमाम विकारों से रहित हैं और दूसरों की आशा पर जीनेवाले नहीं हैं; यानी इच्छाओं के दास नहीं हैं, निस्सीम ज्ञानामृत का पान कर अखण्ड आत्मानंद में सदैव मस्त रहने वाले हैं, शास्त्रविहित विधि-अनुसार जैसा या जो कुछ भी मिलता है, उसी में जो सतुष्ट हैं; उसी को श्रेष्ठ व परम निर्जरा का कारण समझ कर संतोष रखते हैं और अपने शुद्ध परिणामों को विचलित नहीं होने देते, वे महा-मुनि इसी लोक में मोक्ष प्राप्त करते हैं। अर्थात् प्रशमसुख ही मोक्षसुख के समान है। उसमें और मोक्षसुख में कोई अन्तर नहीं पड़ता

**शब्दादिविषयपरिणाममनित्यं दुःखमेव च ज्ञात्वा ।**
**ज्ञात्वा च रागद्वेषात्मकानि दुःखानि संसारे ॥२३९॥**
**स्वशरीरेऽपि न रज्यति शत्रावपि न प्रदोषमुपयाति ।**
**रोगजरामरणभयैरव्यथितो यः स नित्यसुखी ॥२४०॥**

पांचों इन्द्रियों के शब्दादि विषयों के परिणामों को अनित्य एवं दु,खोत्पादक जान कर तथा दुःख रागद्वेषात्मक (रागद्वेष से जनित) होते हैं, ऐसा जानकर संसार में नहीं फंसता, रागद्वेष से होने वाले दुःख को जान कर संसार में रहता हुआ भी अपने शरीर पर राग नहीं करता और शत्रु पर भी द्वेष नहीं करता; उसे रोग बुढ़ापे का भय पीड़ित नहीं करता; इसलिए वह नित्य सुखी रहता है। गीता में भी इसी बात का समर्थन किया गया है:—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः

५ अध्याय २३ श्लोक

धर्मध्यानाभिरतस्त्रिदण्डविरतिस्त्रिगुप्तिगुप्तात्मा ।
सुखमास्ते निर्द्वन्द्वो जितेन्द्रियपरीषहकषायः ॥२४१॥

जो धर्मध्यान में मग्न है, तीनों दण्डों से विरत है, तीन गुप्तियों से गुप्त है और इन्द्रियों, परीषहों, एवं कषायों को जीतने वाला है, ऐसा सर्वप्रपचों से रहित पुरुष सुखसमाधि में मस्त रहता है।

विषयसुखनिरभिलाषः प्रशमगुणगणाभ्यलङ्कृतः साधुः।
द्योतयति यथादित्यः विजित्य सर्वतेजांसि ॥२४२॥

विषयसुख की अभिलाषा से रहित और प्रशमगुणों के समूह से सुशोभित साधु सर्वतेजों को पराजित करके प्रकाशमान सूर्य की तरह प्रकाशित होता है।

ग्रन्थकार ने प्रशमगुणसम्पन्न मुनि को सूर्य की उपमा दी है। ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि तभी तक चमकते हैं, जब तक सूर्य उदय नहीं होता। वैसे ही सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, व्रती, तपस्वी आदि का प्रभाव तभी तक रहता है, जब तक उनके सामने, विषयसुखों से निरपेक्ष प्रशमगुणों से अलंकृत मुनिराज नहीं आते।

सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी विरततपोबलयुतोऽप्यनुपशान्तः ।
तं न लभते गुणं यत् प्रशमसुखमुपाश्रितो लभते॥२४२॥★

प्रशमसुख को प्राप्त मुनि को जो गुण प्राप्त होता है, सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, विरति और तपोबल से युक्त होने पर भी अनुपशान्त पुरुष उस गुण को प्राप्त नहीं कर सकता।

सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी विरततपोध्यानभावनायोगैः ।
शीलाङ्गसहस्राष्टादशकमयत्नेन साधयति ॥२४३॥

---

★यह कारिका किन्हीं प्रतियों में कोष्ठक में है। और कहीं २४२ के अन्तर्गत यह कारिका मानी है।

सम्यग्दृष्टि और ज्ञानी साधक व्रत, तप, सुध्यान और भावनाओं के योग द्वारा अठारह हजार शीलांगों (शील के १८ हजार अंगों) की साधना सुखपूर्वक (अनायास ही) कर लेते हैं। ग्रन्थकार स्वयं इसके (शील के) भेदों का निरूपण करते हैं—

**धर्माद् भूम्यादीन्द्रियसंज्ञाभ्यः करणतश्च योगाच्च ।**
**शीलाङ्गसहस्राणामष्टादशकस्य निष्पत्तिः ॥२४४॥**

दशविधश्रमणधर्म, पृथ्वीकाय आदि जीवों की दश प्रकार की हिंसा से विरमण, पांच इन्द्रिय, आहारादि चार संज्ञा तथा मन, वचन और काया के योग से करना-कराना और अनुमोदनरूप करण के मेल से अठारह हजार शीलांग की निष्पत्ति होती है।

सबसे नीचे के कोष्ठक में (१) क्षमा (२) मार्दव (३) आर्जव (४) शौच (५) संयम (६) त्याग (७) सत्य (८) तप (९) ब्रह्मचर्य (१०) अकिञ्चनत्व, इस दस श्रमणधर्म की स्थापना होनी चाहिये। उससे ऊपर के कोष्ठक में (१) पृथ्वीकायसमारम्भ (२) अप्कायसमारम्भ (३) तेजस्कायसमारम्भ (४) वायुकायसमारम्भ (५) वनस्पतिकाय-समारम्भ (६) द्वीन्द्रियसमारम्भ (७) त्रीन्द्रियसमारम्भ (८) चतुरिन्द्रिय-समारम्भ (९) पञ्चेन्द्रियसमारम्भ (१०) अजीवसमारम्भ को जयणा रखनी चाहिए यह दसविधयतिधर्मयुक्त जयणा पांच इन्द्रियजय-पूर्वक की जाती है, अतः उससे ऊपर के तीसरे कोष्ठक में (१) श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह (२) चक्षुइन्द्रिय-निग्रह (३) घ्राणेन्द्रिय-निग्रह (४) रसनेन्द्रिय-निग्रह (५) स्पर्शेन्द्रिय-निग्रह रखना चाहिए। उससे ऊपर के चौथे कोष्ठक में (१) आहारसंज्ञा (२) भयसंज्ञा (३) मैथुनसंज्ञा (४) परिग्रहसंज्ञा रखना चाहिए। उसके ऊपर पांचवें कोष्ठक में (१) न करता है (२) न कराता है और (३) न अनुमोदन करता है, इन तीनों करणों की स्थापना होनी चाहिए। उससे ऊपर के कोष्ठक में

(१) मनयोग (२) वचनयोग (३) कायायोग रखना चाहिए। इन सबका गुणा (१०×१०×५×४×३×३=१८०००) करने से अठारह हजार शीलांग गुण होते हैं। उसका नक्शा निम्न प्रकार से है—यह अठारह हजार शीलांग रथ का आकार है। इस रथ में बैठकर (यानी इस शीलांग को धारण करने वाले) मुनि भवसागर से पार होते हैं।

कुल १८०००

| | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मन योग ६००० | वचन योग ६००० | काया योग ६००० | | | | | | | |
| न करे २००० | न कराए २००० | न अनुकरे २००० | | | | | | | |
| आहार संज्ञा ५०० | भय संज्ञा ५०० | मैथुन संज्ञा ५०० | परिग्रह संज्ञा ५०० | | | | | | |
| श्रोत्रेन्द्रिय० नग्रह १०० | चक्षु० निग्रह १०० | घ्राणे० निग्रह १०० | रसने० निग्रह १०० | स्पर्शे० निग्रह १०० | | | | | |
| पृथ्वी काय १० | अप काय १० | तेउ काय १० | वाउ काय १० | वन काय १० | दो ई० १० | तीन ई० १० | चतु ई० १० | पञ्च ई० १० | अजीव यतना १० |
| क्षमा १ | मार्दव २ | आर्जव ३ | शौच ४ | संयम ५ | त्याग ६ | सत्य ७ | तप ८ | ब्रह्मचर्य ९ | आकिञ्चन्य १० |

शीलाङ्गरथस्य पारं गत्वा संविग्नसुगमपारस्य ।
धर्मध्यानमुपगतो वैराग्यं प्राप्नुयाद्योग्यम् ॥२४५॥

संसार (जन्म-मरणरूप) से भयभीत (भवभीरु) साधु सरलता से

शीलरूपी समुद्र को पार करके यदि धर्म-ध्यान में तत्पर रहता है तो वह वास्तविक वैराग्य को प्राप्त करता है।

यहां पर शील को समुद्र की उपमा दी जाती है। जैसे समुद्र से पार होना कठिन है, वैसे ही शील के भेद और प्रभेद से पार होना अतिकठिन है। सरलता से शीलसागर को वही पार कर सकता है जो भवभ्रमण से डरता हो और धर्मध्यान में तत्पर हो। उसे ही योग्य वैराग्य की प्राप्ति होती है। वैराग्य प्रशमसुख का कारण है। अतः प्रत्येक आत्मा को शीलसमुद्र से पार उतरने के लिए ससारभीरु होना चाहिए।

**आज्ञाविचयमपायविचयं च सद्ध्यानयोगमुपसृत्य।**
**तस्माद्विपाकविचयमुपयाति संस्थानविचयं च ॥२४६॥**

शीलसमुद्र को पार होने वाला मुनि क्रमशः आज्ञाविचय और अपायविचय ध्यानयोग को प्राप्त कर तदनन्तर विपाकविचय और संस्थानविचय धर्मध्यान को प्राप्त कर लेता है।

**आप्तवचनं प्रवचनं चाज्ञाविचयस्तदर्थनिर्णयनम्।**
**आस्रवविकथागौरवपरीषहाद्येष्वपायस्तु ॥२४७॥**

आप्तवचन को प्रवचन कहते हैं। उसके अर्थ का निर्णय करना आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है। और आस्रव, विकथा, गौरव और परीषह आदि को अपाय (दुःख, कष्ट, विघ्नकारक) रूप में देखना अपायविचय धर्मध्यान है। जिसके समस्त राग, द्वेष और मोह क्षीण हो गये हैं उसे आप्त (प्रामाणिक) पुरुष कहते हैं. उसके वचन को प्रवचन कहते हैं। अर्थात् असत्यता और शंका आदि दोषों से रहित द्वादशांगरूप आगम को प्रवचन कहते हैं। उसके अर्थ का निर्णय (विश्लेषणपूर्वक निश्चय) करना आज्ञाविचय

नामक धर्मध्यान है। अथवा प्रवचन के रूप में सर्वज्ञ परमात्मा ने जो आज्ञा दी है, उसकी गुण ग्राहकता एवं निर्दोषता का विचार करना और पदार्थों के द्रव्य, गुण, पर्याय, नित्य, अनित्य, स्वस्वरूप, परस्वरूप, सद्, असद् आदि स्वरूपों का स्थिर चित्त से विचार करना आज्ञाविचय है। मतलब यह है कि आगमवाणी के अर्थ का बारबार परिशीलन (अभ्यास) करना आज्ञाविचय है।

जिसने जिनेश्वर के बताए मार्ग का स्पर्श नहीं किया, परमात्म-स्वरूप को नहीं जाना और निवृत्तिमार्ग सम्बन्धी विचार नहीं किया, उस पर हजारों प्रकार के कष्ट आ जाते हैं। इस संसार की मोहमाया में आत्मा पराधीन होकर अज्ञ बन सभी प्रकार के अकार्यों को करता है और उसके फलस्वरूप अनेक प्रकार के दुःख भोगता रहता है। अतः प्रत्येक जीव को विचार करना चाहिए कि जो-जो दुःख नरक, तिर्यञ्च और मनुष्यगति में उठाने पड़ते हैं, वे सब मन, वचन और काया के आस्रव से; स्त्री, भोजन, चौर और देशसम्बन्धी विकथा से, ऋद्धि, सुख और रस के गौरव (बड़ाई) से; बाईस परीषह न सहने आदि दुष्कर्मों के कारण ही मिलते हैं। अतः हे आत्मन्! स्वाधीन मोक्षमार्ग को छोड़कर कुमार्ग में क्यों प्रवेश कर रहा है? जैसे सुकाल और सुभिक्ष के समय अथवा स्वतन्त्र-राज्य मिलने पर भी किसी का भिक्षा मांगते फिरना मूर्खतावश घूमना कहलाता है, वैसे ही मोक्षमार्ग पर चलना अपने हाथ में (स्वाधीन) होते हुए भी मेरे सरीखा मूर्ख संसार के पराधीन और कष्टप्रद मार्ग पर क्यों घूम रहा है? इस तरह अपने और दूसरों के सम्बन्ध में अपायों-दुःखों की परम्परा का विचार करना, और भविष्य में उनसे सावधान रहना अपायविचय धर्म-ध्यान कहलाता है।

**अशुभशुभकर्मविपाकानुचिन्तनार्थो विपाकविचयः स्यात्।**
**द्रव्यक्षेत्राकृत्यनुगमनं संस्थानविचयस्तु ॥२४८॥**

शुभाशुभ कर्मों के विपाक (कर्मफल) का अनुचिन्तन करना विपाकविचय नामक धर्म-ध्यान है और जीवों के कर्म द्रव्य, क्षेत्र या उनकी आकृति आदि का विचार करना, संस्थान-विचय धर्मध्यान कहलाता है।

विपाक का अर्थ है— शुभाशुभ कर्मों का फल। शुभकर्म के फल-स्वरूप जीव उत्तम जाति, कुल, देवगति, आदि प्राप्त करता है और अशुभकर्म के फल-स्वरूप वह म्लेच्छजाति नरक, तिर्यञ्च आदि दुर्गति में जन्म लेता है। इस तरह इस विषय पर गहराई से चिन्तन करना विपाकविचय नामक धर्मध्यान कहलाता है।

छह द्रव्य हैं और तीनलोक हैं। इनके आकार का चिन्तन करना इसमें जीव आदि पदार्थों के अस्तित्व का विचार करना। उनकी स्थिति, गति, निवास, आदि के विषय में गहराई से चिन्तन करना संस्थानविचय धर्मध्यान कहलाता है।

**जिनवरवचनगुणगणं स चिन्तयतो वधाद्यपायांश्च।**
**कर्मविपाकान् विविधान् संस्थानविधीननेकांश्च ॥२४९॥**
**नित्योद्विग्नस्यैवं क्षमाप्रधानस्य निरभिमानस्य ।**
**धुतमायाकलिमलनिर्मलस्य जितसर्वतृष्णस्य ॥२५०॥**
**तुल्यारण्यकुलाकुलविविक्तबन्धुजनशत्रुवर्गस्य ।**
**समवासीचन्दनकल्पनप्रदेहादिदेहस्य ॥२५१॥**

आत्मारामस्य सतः समतृणमणिमुक्तालोष्ठकनकस्य ।
स्वाध्यायध्यानपरायणस्य दृढमप्रमत्तस्य ॥२५२॥

अध्यवसायविशुद्धेः प्रशस्तयोगैर्विशुद्ध्यमानस्य ।
चारित्रशुद्धिमग्र्यामवाप्य लेश्याविशुद्धिं च ॥२५३॥

तस्यापूर्वकरणमथ घातिकर्मक्षयैकदेशोत्थम् ।
शुद्धिप्रवेशविभववदुपजातं जातभद्रस्य ॥२५४॥

जो मुनि श्री जिनेश्वर भगवान के वचनों के गुणों (विशेषताओं) का चिन्तन करता है, साथ ही अपायों, विविध प्रकार के कर्मविपाकों और षडद्रव्यात्मक लोक की संस्थानरचना का अच्छी तरह से विचार करता है, जो जन्ममृत्युजराव्याधिरूप संसार से नित्य भयभीत रहता है, क्षमा जिसका मुख्य गुण है, जिसमें अभिमान का लेश नहीं है, जो माया (कपट) दोष से मुक्त होने से निर्मल और सभी तृष्णाओं को जीतने वाला है, अरण्य हो या नगर हो, बन्धुजन हो या शत्रु हो, को चन्दन का विलेपन करे अथवा कुल्हाड़ी से अंगच्छेदन करे; सर्वत्र सभी अवस्थाओं में सब पर समभाव रखता है; अपनी आत्मा में ही रमण करता है; तिनका हो चाहे मणि, सोना हो या पत्थर दोनों पर जिसका चित्त सम है; जो स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर रहता है; दृढ़तापूर्वक सदा अप्रमत्त रहता है; प्रशस्त योग (मनवचनकाया की प्रवृत्ति) से जिसका अध्यवसाय विशुद्ध है, और उत्कृष्ट चारित्र-विशुद्धि और लेश्याविशुद्धि पाकर कल्याणमूर्ति हुए मुनि को शुद्धियों के प्रवेश के कारण घातिकर्म का क्षय होने से एक देश से उत्पन्न हुआ महाप्रभावशाली अपूर्वकरण नामक (आठवां गुणस्थानक) प्राप्त हो जाता है।

इस गुणस्थानक वाले के अपूर्व अर्थात् जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुए, ऐसे कारण अर्थात् परिणाम होते हैं। इस लिये इसे अपूर्व-कारण (करण) (आठवां गुण स्थान) कहा है यह अपूर्वकरण गुणस्थान ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय कर्मों के एकदेश से क्षय होने पर प्राप्त होता है। इसके प्राप्त होने से अनेक ऋद्धियों की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि आज्ञाविचयादि धर्मध्यान में लीन होने से साधु को अनेक गुणों की प्राप्ति होने के साथ, उन विशिष्ट गुणों की प्राप्ति होती है, जो गुण उसे अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान को प्राप्त कराने में समर्थ होते हैं।

सार्द्धिरसेष्वगुरुः सम्प्राप्य विभूतिमसुलभामन्यैः ।
सक्तः प्रशमरतिसुखे न भजति तस्यां मुनिः संगम् ॥२५५॥

रस-गौरव ऋद्धि-गौरव और साता-गौरव में लुब्ध न होने वाला और दूसरों द्वारा दुर्लभ लब्धियों की संपदा पाकर भी प्रशमरति-सुख में मग्न वह मुनि उस लब्धि और संपदा में आसक्त नहीं होता।

जो मुनिराज प्रशमरतिसुख में निमग्न है, वह रस, ऋद्धि और साता गौरव का आदर नहीं करता। उसके पास अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये अष्टमहा-सिद्धियां, आकाशगामिनी विद्या और वैक्रिय आदि लब्धियां होने पर भी वह उनमें आसक्ति नहीं करता।

या सर्वसुरवरर्द्धिर्विस्मयनीयापि सानगारर्द्धेः ।
नार्घति सहस्रभागं कोटिशतसहस्रगुणिताऽपि ॥२५६॥

समस्त सुरवरों (इन्द्रों) की ऋद्धि विस्मय में डालने वाली होने पर भी, अगर वह आश्चर्यजनक ऋद्धि लाख और करोड़ गुनी कर दी जाए या हो जाए तो भी वह अनगारमुनि की ऋद्धि के हजारवें हिस्से की भी बराबरी नहीं कर सकती।

मुनि और इन्द्र के सुख में महान अन्तर है। इन्द्र की ऋद्धि विस्मयकारी अवश्य है। परन्तु उसे भी करोड़लाखगुनी कर दी जाय और उससे जो संख्या निष्पन्न हो, उतने गुना सुख किसी इन्द्र को मिल जाय, फिर भी प्रशमसुखप्राप्त मुनि के सुख का हजारवां हिस्सा सुख भी एक इन्द्र को नसीब नहीं होता है। मुनि का सुख महान् है और इन्द्र का तुच्छ है। क्योंकि इन्द्र के सुख में पराभव, ईर्ष्या और दुर्गति का भय बना रहता है। जो सुख परिणाम में दुःखरूप हो, वह दास्तव में सुख नहीं, दुःख ही है।

**तज्जयमवाप्य जितविघ्नरिपुभवशतसहस्रदुष्प्रापम्।**
**चारित्रमथाख्यातं सम्प्राप्तस्तीर्थकृत्तुल्यम् ॥२५७॥**

विघ्नरूपी शत्रु (राग-द्वेष) को दूर कर जिस मुनि ने ऋद्धियों पर विजय प्राप्त कर ली है, वह मुनि लाखों मनुष्यभवों में भी दुर्लभ यथाख्यातचारित्र को श्रीतीर्थंकर भगवान् के समान प्राप्त कर लेता है।

**शुक्लध्यानाद्यद्वयमवाप्य कर्माष्टकप्रणेतारम्।**
**संसारमूलबीजं मूलादुन्मूलयति मोहम्॥२५७॥**

उस यथाख्यात चारित्र को पाकर वह मुनि शुक्लध्यान के आदि के दो पाद पृथक्त्ववितर्क विचार और एकत्ववितर्कअविचार प्राप्त करके आठों कर्मों के उत्पादक और संसारवृद्धि के मूल कारण मोह को जड़ से उखाड़ डालता है।

**पूर्वं करोत्यनन्तानुबन्धिनाम्नां क्षयं कषायाणाम्।**
**मिथ्यात्वमोहगहनं क्षपयति सम्यक्त्वमिथ्यात्वम् ॥२५९॥**

सम्यक्त्वमोहनीयं क्षपयत्यष्टावतः कषायांश्च ।
क्षपयति ततो नपुंसकवेदं स्त्रीवेदमथ तस्मात् ॥२६०॥

हास्यादि तथा षटकं क्षपयति तस्माच्च पुरुषवेदमपि ।
संज्वलनानपि हत्वा प्राप्नोत्यथ वीतरागत्वम् ॥२६१॥

श्रीग्रन्थकार ने तीन श्लोकों में संक्षेप से मोहनीय कर्म का उन्मूलन करके क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होने की प्रक्रिया बतलाई है। प्रथम क्षपकश्रेणी में साधक अनन्तानुबंधी क्रोध,मान,माया और लोभ नामक कषायों का क्षय करता है, दूसरी क्षपकश्रेणी में कठोरतम मिथ्यात्व-मोहनीय का क्षय करता है; इसके बाद तीसरी क्षपकश्रेणी में सम्य-क्त्व मिथ्यात्व (मिश्र) मोहनीय का क्षय करता है। चौथी क्षपकश्रेणी में सम्यक्त्वमोहनीय का क्षय करता है। पांचवीं क्षपकश्रेणी में अप्रत्याख्यानीय कषायों का क्षय करता है, छठी क्षपकश्रेणी में प्रत्याख्यानीय कषायों का क्षय करता है। सातवीं क्षपकश्रेणी में नपुसकवेद और आठवां श्रेणी में स्त्रीवेद समाप्त करता है। नवमा श्रेणी में हास्यादि (हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगु-प्सा) छह नोकषायों का क्षय करता है। दशवी श्रेणी में पुरुषवेद और संज्वलन कषायों का अनुक्रम से क्षय करता हुआ ग्यारहवीं श्रेणी में संज्वलन लोभ का क्षय करके वह वीतरागता को प्राप्त करता है। इस क्रम से साधक मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों का सर्वथा क्षय कर देता है।

सर्वोद्धाततमोहो निहतक्लेशो यथा हि सर्वज्ञः ।
भात्यनुपलक्ष्यराहुवंशोन्मुक्तः पूर्णचन्द्र इव ॥२६२॥

इस प्रकार मोह का सर्वथा उच्छेद करने वाला और रागद्वेषादि

समस्त क्लेशों को नष्ट करने वाला साधक वीतरागता की सोलह कलाओं से परिपूर्ण सर्वज्ञ की तरह ऐसा सुशोभित होता है, जैसे राहू के अंश से मुक्त सोलहकलाओं से विकसित पूर्ण चन्द्रमा हो।

इस श्लोक में ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती (क्षपकश्रेणी पर आरूढ़) की स्थिति बताई है-जैसे चन्द्रमा राहू से अलग हो जाने पर पूर्णिमा की रात्रि को अपनी समस्त कलाओं से युक्त चांदनी से देदीप्यमान होता है, वैसे ही जीव भी कर्मरूपी राहू से मुक्त होकर पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह समस्त दोषरहित सर्वज्ञतुल्य शोभायमान होता है।

**सर्वेन्धनंकराशीकृतसन्दीप्तो ह्यनन्तगुणतेजः।**
**ध्यानामलस्तपः प्रशमसंवरहविर्वृद्धबलः ॥२६३॥**

**क्षपकश्रेणीमुपगतः स समर्थः सर्वकर्मिणां कर्म।**
**क्षपयितुमेको यदि कर्मसंक्रमः स्यात् परकृतस्य ॥२६४॥**

समस्त ईंधनों (लकड़ियों) को इकट्ठा करके आग लगाने पर जैसे अग्नि का तेज अनन्त गुणा हो जाता है, वैसे ही क्षपकश्रेणी को प्राप्त साधक ध्यान (शुक्ल) रूपी अग्नि में आहूति के द्वार (देकर) अपना बल बढ़ा कर अनन्तगुना तेज वाला बन जाता है और वह अकेला ही समस्त कर्मसंयुक्त जीवों के कर्मों को क्षीण करने में समर्थ हो जाता है, बशर्ते कि अन्य जीवों द्वारा कृत कर्मा का संक्रमण हो सकता हो।

क्षपकश्रेणी में आरूढ़ जीव की शक्ति तप, वैराग्य और संवर के द्वारा बढ़ने से वह ध्यानरूपी अग्नि को इतनी प्रज्वलित कर लेती है कि यदि उसमें सभी संसारी जीवों के समस्त कर्मों का पुंज

डाल दिया जाए तो वह उन सब कर्मों को जला कर भस्म कर सकता है। परन्तु ऐसा संभव नहीं है। क्योंकि अपने ध्यान से अपने ही कर्मों का क्षय किया जा सकता है। अतः यहां पर केवल क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ साधक की शक्ति बतलायी है।

**परकृतकर्मणि यस्मान्न क्रामति संक्रमो विभागो वा।**
**तस्मात् सत्वानां कर्म यस्य यत्तेन तद्वेद्यम् ॥२६५॥**

चूंकि दूसरे जीवों द्वारा कर्मों का संक्रमण (एक का कर्म दूसरे में चला जाना) संभव नहीं है, और न विभाग (बाटना) ही संभव है। इसलिये जिसने जैसे या जो जो कर्म किये हैं, अथवा करता है, उसको उन कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। एक के कम दूसरा ले नहीं सकता, न बांट सकता है और न ही भोग सकता है।

यह चराचर जगत् शुभ और अशुभ उदयप्राप्त कर्मविपाक (फल) के अधीन (परवश) है, ऐसा जैनदर्शन मानता है। इस श्लोक में यह बात सिद्ध की है कि जो जीव जैसा कर्म स्वयं करेगा, वैसा ही फल प्राप्त करेगा। ऐसा जानकर तत्वरसिक मुनि असातादि दुःख आ पड़ने पर दीन नहीं बनते, क्योंकि कर्म बांधते (करते) समय विचार नहीं किया, तो अब तीव्ररस से बद्ध कर्मबन्ध उदय में आने पर दीनता क्यों दिखाई जाय? क्यों कायरता धारण की जाय? अथवा सातादिक सुख पा कर वे हर्षित नहीं होते, क्योंकि वे सोचते है—यह भी शुभकर्म का विपाक है। अतः वे सर्वदा सर्वकाल एक ही प्रशमभाव में निमग्न रहते हैं।

**मस्तकसूचिविनाशात्तालस्य यथा ध्रुवो भवति नाशः।**
**तद्वत्कर्मविनाशो हि मोहनीयक्षये नित्यम् ॥२६६॥**

जिस तरह ताड़ के वृक्ष के शिखर पर सूई की नोक जैसा अग्रभाग नष्ट होने पर उस ताड़वृक्ष का अवश्य ही नाश हो जाता है; उसी तरह कर्मशिरोमणि मोहनीय कर्म के क्षय होने पर दूसरे समस्त कर्मों का अवश्यमेव नाश हो जाता है।

**छद्मस्थवीतरागः कालं सोऽन्तमुहूर्त्तमथ भूत्वा।**
**युगपद्विविधावरणान्तरायकर्मक्षयमवाप्य ॥२६७॥**

**शाश्वतमनन्तमनतिशयमनुपममनुत्तरं निरवशेषम् ।**
**सम्पूर्णमप्रतिहतं सम्प्राप्तः केवलज्ञानम् ॥२६८॥**

मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय करके क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होने के बाद अन्तमुहूर्त्तकाल तक वह जोव छद्मस्थ वीतराग रह कर एक साथ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और समग्र अन्तरायकर्म का सर्वथा क्षय करके, शाश्वत, अनन्त, सर्वातिशयि, अनुपम, अनुत्तर निरवशेष, संपूर्ण और अप्रतिहत केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

जिस प्रकार अगाध समुद्र को पार करके मनुष्य विश्राम करता है, उसी तरह निर्ग्रन्थ मुनि मोहरूपी महासमुद्र को पार कर लेने के बाद एक अन्तमुहूर्त (४८ मिनट में दो समय कम) तक, बारहवें गुणस्थान में विश्राम करता है। उस मुनि को छद्मस्थ वीतराग कहा जाता है। एक अन्तमुहूर्त काल तक ठहर कर वह एक ही झपाटे में एक साथ ज्ञानावरणीय की पांच, दर्शनावरणीय की चार, और अन्तराय की पांच प्रकृतियों का क्षय कर देता है। इनका क्षय होते ही उसे केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है। वह केवलज्ञान बिलकुल निरावरण है, सम्पूर्ण है, नित्य है, उसका कभी अन्त नहीं होता;

उससे बढ़कर कोई अतिशय ज्ञान नहीं है। वह अनुपम है, उसे किसी वस्तु की उपमा नहीं दी जा सकती। उससे बढ़कर कोई अन्य ज्ञान नहीं है; वह तो आत्मस्वरूप है। सकल पदार्थों को जानने वाला है और पर्वत, पृथ्वी, समुद्र आदि में भी उसे किसी प्रकार की रुकावट नहीं, न कोई प्रतिघात होता है।

**कृत्स्ने लोकालोके व्यतीतसाम्प्रतभविष्यतः कालान्।**
**द्रव्यगुणपर्यायाणां ज्ञाता द्रष्टा च सर्वार्थैः ॥२६९॥**

केवलज्ञानी समस्त लोक और अलोक में, भूत, भविष्य और वर्तमान सम्बन्धी द्रव्य, गुण और पर्यायों को सब प्रकार से जानता और देखता है।

केवलज्ञानी लोकालोक के समस्त द्रव्यगुणपर्यायों के एक साथ ही ज्ञाता और द्रष्टा हैं। सर्वकाल में समस्त पदार्थों के द्रव्यगुण-पर्यायों की स्थिति को जानते हुए, वे भूत, भविष्य और वर्तमान के विशिष्ट विचारक होते हैं। लोक में और अलोक में अपने ज्ञाता-पन से और द्रष्टापन से पूर्ण व्यापकरूप ज्ञान के वे विज्ञाता होते हैं।

**क्षीणचतुःकर्मांशो वेद्यायुर्नामगोत्रवेदयिता।**
**विहरति मुहूर्तकालं देशोनां पूर्वकोटिं वा ॥२७०॥**

चारों घातिकर्मों का नाश करके वेदनीय, आयु; नाम और गोत्र कर्म का वेदन करते हुए, केवली भगवान् जघन्य एक मुहूर्त अथवा एक करोड़ पूर्व में कुछ कम काल तक विचरण करते हैं।

वे जब मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन चार घाती कर्मों का क्षय करते हैं, तब उनके वेदनीय, आयु, नाम और गोत्ररूप ४ अघाती कर्म शेष रहते हैं। केवलज्ञान होने के बाद जघन्य दो घड़ी तक और उत्कृष्टतः एक कोटि पूर्व काल तक भव्य

जीवों को धर्मोपदेश देते हुए विचरते हैं। कर्मभूमि के मनुष्य की उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व वर्ष तक की होती है और वह कमसे कम आठ वर्ष की उम्र होने पर दीक्षा ले सकता है। अगर दीक्षा लेते ही केवलज्ञान प्राप्त हो जाए तो वह एक कोटि वर्ष में ८ वर्ष कम तक (उत्कृष्टतः) विचरते रहते हैं। और किसी को केवलज्ञान होने के बाद एक अन्तर्मुहूर्त में ही निर्वाण हो जाता है, जैसे मरुदेवी माता।

**तेनाभिन्नं चरमभवायुर्दुर्भेदमनपवर्तित्वात्।**

**तदुपग्रहं च वेद्यं तत्तुल्ये नामगोत्रे च ॥२७१॥**

ऐसे चर्मशरीरी पुरुष की आयु निरुपक्रमी होती है, क्योंकि उसका अपवर्तन नहीं होता। उस आयु के उपगृहीत (सहायकारी) वेदनीयकर्म और नाम तथा गोत्रकर्म भी उसके तुल्य हो जाते हैं।

आयुष्य दो प्रकार का होता है,—सोपक्रमी और निरुपक्रमी। सोपक्रमी आयुष्य अध्यवसाय, निमित्त, आहार, वेदना, पराघात, स्पर्श और श्वासोश्छ्वास, इन सात कारणों से बीच में ही टूट जाता है, परन्तु तिरसठ (६३) श्लाघ्य पुरुष, देवता, नारकी जीव तथा चरम देहधारी (उसी भव में मोक्ष जाने वाले) आदि पुरुषों को आयुष्य निरुपक्रम होता है। इनका आयुष्य किसी भी कारण से बीच में खत्म या अकालमरण नहीं होता। तथा इनके आयुकर्म की जितनी स्थिति होती है वेदनीय, नाम और गोत्रकर्म की भी उतनी ही स्थिति होती है। अतः ये तीनों कर्म भी आयुकर्म के समान ही होते हैं। क्योंकि आयुकर्म की स्थिति पर ही उनकी स्थिति निर्भर है; अतः वे आयुकर्म से उपकृत हैं। आयुकर्म के सद्भाव में ही वेदनीय आदि कर्म ठहर सकते हैं।

**यस्य पुनः केवलिनः कर्म भवत्यायुषोऽतिरिक्ततरम् ।**
**स समुद्घातं भगवानथ गच्छति तत् समीकर्त्तुम्॥२७३॥**

अगर किसी केवलज्ञानी महापुरुष के आयुष्य कर्म से वेदनीय आदि कर्म अधिकतर रह गये हों तो, उन्हें बराबर करने के लिए (कर्मसमीकरणार्थ) केवली समुद्घात करते हैं।

जब केवली भगवान् अपने ज्ञान में देखते हैं कि मेरा आयुष्य-कर्म कम है, और वेदनीय, नाम तथा गोत्रकर्म की स्थिति अधिक है, तब दोनों की स्थिति समान करने के लिए वे समुद्घात करने हैं। परन्तु दोनों की स्थिति समान हो तो समुद्घात की आवश्यकता नहीं होती। केवली समुद्घात चरमशरीरी जीव ही करते हैं, और वे अघाती कर्म से मुक्त होने के लिए करते हैं।

**दण्डं प्रथमे समये कपाटमथ चोत्तरे तथा समये ।**
**मन्थानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥२७४॥**
**संहरति पंचमे त्वन्तराणि मन्थानमथ पुनः षष्ठे ।**
**सप्तमके तु कपाटं संहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ॥२७४॥**

केवलज्ञानी समुद्घात करते समय प्रथम समय में दण्ड के आकार से संहरण करते हैं; दूसरे समय में कपाट के आकार से,तीसरे समय में मन्थान के रूप में संहरण करते हैं, चौथे समय में सारे लोक में व्याप्त हो जाते हैं। पांचवें समय में अन्तराल को सिकोड़ते हैं। तत्पश्चात् छठे समय में मथानी को, सातवें समय में कपाट को और आठवें समय में दण्ड को सिकोड़ते हैं।

मोक्ष जाने में जब अन्तर्मुहूर्त काल बाकी रहता है, अथवा किसी की मान्यता है कि जब मोक्ष जाने में छह मास बाकी रह जाता है;

तब केवलीभगवान् समुद्घात करते हैं। उसमें आठ समय लगते हैं। प्रथम समय में आत्मप्रदेशों को दण्ड के आकार के नीचे से ऊपर तक बना कर लोक के अन्त तक फैलाते हैं। दूसरे समय में कपाट के आकार के आत्मप्रदेश बना कर फैलाते हैं। अर्थात् दक्षिण-उत्तर दिशा में लोक के अन्त तक आत्मप्रदेशों को फैलाते हैं। तीसरे समय में उस कपाट को मथानी के आकार का बनाते हैं। अर्थात् पूर्व-पश्चिम दिशा में लोक के अन्त तक आत्मप्रदेशों को मथानी के आकार के बना कर फैलाते हैं और चौथे समय में मथानी से अन्तराल। जहां खाली जगह रह जाती है, उसको भर कर आत्मा चौदह राजूलोकव्यापी हो जाता है। यह है आत्मा का विराट् स्वरूप! आत्मा का चमत्कार ऐसा-वैसा नहीं है। चैतन्य की शक्ति अद्भुत है। केवलीसमुद्घात की अपेक्षा से जैनदर्शन आत्मा को सारे लोक में व्यापक मानता है।

सामान्यतया आत्मा प्रत्येक जीव के अपने शरीर के प्रमाण का माना जाता है। इस तरह चौदह राजूलोक में अपने आत्मप्रदेशों को फैला कर केवलीज्ञान पुरुष निरावरण अनन्तवीर्य के जरिये वेदनीय, नाम और गोत्रकर्मों को आयुकर्म के बराबर स्थिति वाले बना देते हैं। जैसे गीले वस्त्र को इकट्ठा करके रख दिया जाय तो उसे सूखने में बहुत समय लगता है। परन्तु उसी वस्त्र को फैला दिया जाय तो थोड़े ही समय में सूख जाता है। उसी तरह सकोच दशा में आत्मा से कर्मरज अलग होने में बहुत समय लगता है, किन्तु वही आत्मा समुद्घातदशा में अपने आत्मप्रदेशों को फैला कर थोड़े ही समय में कर्मों से अलग हो जाती है। हां, एक बात जरूर है कि उनके आयुकर्म का परिवर्तन नहीं किया जा सकता; क्योंकि चरमशरीरी पुरुष के आयुष्य का घात नहीं हो सकता।

इस तरह चार समय में अघातीकर्म समस्थिति वाले बना कर

वे आत्मप्रदेशों का उपसंहार कर (समेट) लेते हैं। अर्थात् पांचवें समय में अन्तराल के प्रदशों को सिकोड़ते (समेटते) हैं। छठे समय में मथानी को सिकोड़ते हैं। सातवें समय में कपाट को सिकोड़ते हैं और आठवें समय में दण्ड को समेट कर पहले की तरह अपने मूल शरीर में ही स्थित हो जाते हैं।

**औदारिकप्रयोक्ता प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः।**
**मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु २७५॥**

**कार्माणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चके तृतीये च।**
**समयत्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥२७६॥**

पहले और आठवें समय में केवली भगवान् के औदारिक शरीर का योग होता है। सातवें, छठे तथा दूसरे समय में मिश्रऔदारिक योग होता है।

और चौथे, पांचवें और तीसरे समय में कार्माण शरीरयोग होता है, और इन तीनों समयों में नियम से वे अनाहारक होते हैं।

पहले और आठवें समय में औदारिक योग ही होता है, क्योंकि उस समय केवलीभगवान् अपने मूल शरीर में ही स्थिर होते हैं कपाट का उपसंहार सातवें समय में होता है, मथानी का उपसंहार छठे समय में होता है और कपाट का आकार द्वितीय समय में होता है। इन तीनों समयों में कार्माणयुक्त औदारिक शरीर का योग होता है। चौथे समय में मथानी के अन्तरालों को भरा जाता है, अर्थात् चौथे समय में वे चौदह राजूलोकव्यापी बन जाते हैं। पांचवें समय में मथानी के अन्तरालों का उपसंहार करते हैं और तीसरे समय में मथानी का आकार होता है इन तीनों ही समयों में कार्माणशरीर-योग होता है और उसमें जीव नियम से अनाहारक होता है।

**स समुद्घातनिवृत्तोऽथ मनोवाक्काययोगवान् भगवान् ।**
**यतियोग्ययोगयोक्ता योगनिरोधं मुनिरुपैति ॥२७७॥**

केवली भगवान् समुद्घात से निवृत होकर मन, वचन और कायायोग वाले, मुनि के योग्य योगों से युक्त होकर (तत्पश्चात्) योगनिरोध करते हैं।

केवली भगवान् समुद्घात करने के बाद योगनिरोध का पुरुषार्थ करते हैं। छठे कर्मग्रन्थ में इसका निरूपण यों मिलता है—प्रथम बादर वचनयोग के निरोध में प्रवृत्ति करते हुए, बादर कायायोग का निष्पन्न करके बादर मनोयोग को अन्तमुहूर्त में रोक लेते हैं और बाद में सूक्ष्म मनोयोग को स्थिर करके बादर वचनयोग को रोकते हैं। तत्पश्चात् सूक्ष्म काययोग करके बादर काययोग को रोकते हैं और फिर सूक्ष्म मनोयोग को रोकते हैं। इसके बाद सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करते हैं। इस तरह अप्रतिपाति नामक तीसरे शुक्लध्यान में आरूढ़ होते हैं।

**पञ्चेन्द्रियोऽथ संज्ञी यः पर्याप्तो जघन्ययोगी स्यात् ।**
**निरुणद्धि मनोयोगं ततोऽप्यसंख्यातगुणहीनम् ॥२७८॥**

जो छही पर्याप्तियों से पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होता है, वह प्रथम समय में जघन्य मनोयोग वाला होता है। वह उससे भी असंख्यातगुणहीन मनोयोग को रोकते हैं और अन्त में मनोयोग क पूर्ण निरोध कर मनरहित (मनोयोगरहित) हो जाते हैं।

जहां तक मन, वचन. काया तीनों में से किसी का भी योग (व्यापार या प्रवृत्ति) रहता है, वहाँ तक सिद्धि (मुक्ति) नहीं होती। अतः योगों को अवश्य रोकना चाहिये। उसमें प्रथम योग का आपे-

क्षिक निरोध किया जाता है। मनःपर्याप्ति नामक करण शरीर से सम्बन्धित है। उससे जीव मनोद्रव्यवर्गणाओं को ग्रहण करता है। उस मनःपर्याप्ति के वियोग करने के लिए उसे अनन्तशक्ति से रोका जाता है। उसे रोकने के लिए केवली प्रथम मनःपर्याप्ति कारक से युक्त पञ्चेन्द्रिय संज्ञी जीव के पर्याप्तक होने के प्रथम समय में जघन्य मनोयोग (उतने मनोद्रव्यवर्गणा के स्थानों) को अपनी आत्मा में रोकते हैं। इसके बाद प्रति समय उससे असंख्यात गुना कम (हीन) स्थानों को रोकते हैं। जब सर्व-स्थान रुक जाते हैं तो वे अमनस्क अर्थात् मनःपर्याप्ति से रहते हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि केवली भगवान् तीनों योगों में से प्रथम मनोयोग को रोकते हैं। जिन पुद्गलवर्गणाओं से मन बनता है, उन्हें मनोद्रव्यवर्गणा कहते हैं। मनोद्रव्यवर्गणा के ग्रहण करने से प्राप्त योग्य शक्ति के व्यापार को मनोयोग कहते हैं। अतः केवली-भगवान् धीरे-धीरे मनोयोग का निरोध करके अमनस्क हो जाते हैं।

**द्वीन्द्रियसाधारणयोर्वागुच्छ्वासावधो जयति यद्वत्।**
**पनकस्य काययोगं जघन्यपर्याप्तकस्याधः ॥२७६॥**

जैसे पहले समय में पर्याप्त द्वीन्द्रिय जीव को वचनयोग होता है, और साधारण-वनस्पतिकायिक जीव के श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति होती है; उसी तरह केवलज्ञानी भी क्रमशः असंख्यगुणहीन निरोध करते-करते समस्त वचनयोग और श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति का निरोध करते हैं। इस प्रकार मन-वचन योग का निरोध होने के बाद जघन्यपर्याप्तक पनकजीव के काययोग से असंख्यगुणहीन काययोग का निरोध करते हैं और अन्त में सर्वकाययोग का निरोध करके अयोगी बन जाते हैं। केवली जिस प्रकार मनोयोग का निरोध करते हैं, उसी प्रकार वचनयोग और श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति का भी निरोध करते हैं। द्वीन्द्रियपर्याप्त जीव के पहले समय में

जो श्वासोच्छ्वास होता है, उससे भी असंख्यातगुणहीन असंख्यात-गुण वचनयोग और श्वासोच्छ्वास तब तक प्रतिसमय रोकते रहते हैं, जब तक समस्त वचनयोग और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति का निरोध नहीं हो जाता।

मनवचनयोग के रोकने के बाद वे काययोग का निरोध करते हैं। पर्याप्त पनक (इल्लि) जीव के पहले समय में जो जघन्य काययोग होता है, उसमें भी असख्यातगुणहीन काययोग का वे हर समय निरोध करते रहते हैं। इस तरह निरोध करते-करते सर्वकाययोग का निरोध करके वे अयोगी बन जाते हैं।

**सूक्ष्मक्रियाप्रति पाति-काययोगोपयोगतो ध्यात्वा ।**
**विगतक्रियममनिर्वर्तित्वमुत्तरं ध्यायति परेण ॥२८०॥**

काययोग का निरोध करते समय क ययोग के उपयोग से सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति नामक तीसरा शुक्लध्यान होता है। उस ध्यान के बाद विगतक्रिय-अनिवृत्तिरूप नामक चौथा शुक्लध्यान होता है। इसके बाद कोई भी ध्यान नहीं होता।

जिस समय केवली सूक्ष्मयोग में स्थित होते हैं, उस समय उनके सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति नामक तीसरा शुक्लध्यान होता है। उसके बाद सर्वयोगों का निरोध होने पर 'व्युपरतमकलक्रिय' नामक चौथा शुक्लध्यान होता है। इस ध्यान के द्वारा वे अवशिष्ट समस्त कर्मप्रकृतियां का क्षय कर देते हैं।

**चरमे भवे सस्थानं यादृग्यस्योच्छ्रयप्रमाणं च ।**
**तस्मात्त्रिभागहीनावगाहसंस्थानपरिणाहः ॥२८१॥**

अन्तिम भव में जिस केवली का जैसा संस्थान जितना शरीर का आकार और जितनी ऊंचाई होती है, वह उससे प्रमाण में एक

तिहाई भाग कम अवगाहना वाला संस्थान, (आकार) और ऊंचाई करते हैं और उसी शरीर में आत्मप्रदेशों को घनीभूत कर लेते हैं।

मोक्षार्थी जीव का अन्तिम भव में जैसा संस्थान (आकार) होता है, जितनी ऊंचाई होती है, उससे उसकी अवगाहना एक तिहाई कम बाकी रह जाती है। क्योंकि शरीर में मुख, कान नाक, आदि स्थानों में जो छिद्र होते हैं वे आत्मप्रदेशों से ठोसरूप से भर जाते हैं। और उनके पूरित हो जाने से आत्मा के प्रदेश घनीभूत हो जाते हैं। अतः मोक्षगामी जीव के आत्मप्रदेशों की अवगाहना मूलशरीर की अवगाहना से त्रिभागहीन रह जाती है।

**सोऽथ मनोवागुच्छ्वासकाययोगक्रियार्थविनिवृत्तः ।**
**अपरिमितनिर्जरात्मा संसारमहार्णवोत्तीर्णः ॥२८२॥**

योगनिरोध होने के बाद मन, वचन और काया के योगों तथा श्वासोच्छ्वास—सम्बंधी क्रिया से निवृत्त होने पर केवली भगवान् कर्मों की अपरिमित (असीम) निर्जरा कर लेते हैं और संसाररूपी महासमुद्र से पार हो जाते हैं।

योगनिरोध से नवीन कर्मबन्ध का अभाव हो जाता है और उपांत्य समय में सत्ता में रही हुई ७२ कर्मप्रकृतियां भी समाप्त हो जाती हैं तथा अन्त समय में बाकी की १३ प्रकृतियों का भी क्षय करके संसार रूपी महासागर से पार होकर वे सिद्धिपद प्राप्त कर लेते हैं।

**ईषद्ध्रस्वाक्षरपञ्चकोद्गिरणमात्रतुल्यकालीयाम् ।**
**संयमवीर्याप्तबलः शैलेशीमेति गतलेश्यः ॥२८३॥**

संयम के पराक्रम से प्राप्त किये हुए अनन्तबल से युक्त और लेश्या से मुक्त हुए वे केवली भगवान् ह्रस्व पांच अक्षरों के उच्चारणमात्र जितने ईषद् (थोड़े) काल में शैलशी अवस्था प्राप्त कर लेते हैं।

शैलेशी अवस्था चौदहवें गुणस्थानक की है। शैल का अर्थ पहाड़ है और ईश का अर्थ स्वामी है। अर्थात् पर्वतों का स्वामी सुमेरु है। मेरुपर्वत की अवस्था निश्चल होती है, वैसे ही उस आत्मा की मेरुपर्वत की तरह निष्प्रकंप अवस्था हो जाती है। इसलिए इसे शैलेशी अवस्था कहते हैं। संयम के पराक्रम से अपारबल प्राप्त होने से और लेश्याओं (चित्त के परिणामों की तरंगों) के अभाव के कारण यह अवस्था प्राप्त होती है, और अ, इ, उ, ऋ और ऌ इन पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतना ही काल उस शैलेशी अवस्था को प्राप्त करने में लगता है।

**पूर्वरचितं च तस्यां समयश्रेण्यामथ प्रकृतिशेषम्।**
**समये-समये क्षपयत्यसंख्यगुणमुत्तरोत्तरतः ॥२८४॥**

उस शैलशी अवस्था के समय को श्रेणी में मुक्तिगामी जीव पूर्वरचित (पहले का बांधी हुई) शेष कर्मप्रकृतियों को समय-समय में उत्तरोत्तर असंख्यातगुनो क्षय करता जाता है। यानी प्रथम समय में जितने कर्मदलिक 'कमसमूह' क्षय किये जाते हैं, दूसरे समय में उससे असंख्यातगुने कर्मदलिक क्षय किये जाते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर असंख्यात से असंख्यातगुणा कमदलिकों का क्षय किया जाता है।

**चरमे समये संख्यातीतान् विनिहन्ति चरमकर्मांशान्।**
**क्षपयति युगपत् कृत्स्नं वेद्यायुर्नामगोत्रगणम् ॥२८५॥**

अन्तिम समय में वह शेष बचे हुए असंख्यात कर्म-अंशों को समाप्त कर देता है और उनके साथ ही साथ सम्पूर्ण वेदनीय, आयु, नाम, और गोत्र-कर्मों के समूह तथा उनके कारणों को भी एकदम नष्ट कर देता है।

सर्वगतियोग्यसंसारमूलकरणानि सर्वभावीनि ।
औदारिक-तैजस-कार्मणानि सर्वात्मना त्यक्त्वा॥२८६॥

देहत्रयनिर्मुक्तः प्राप्यर्जुश्रेणिवीतिमस्पर्शाम् ।
समयेनैकेनाविग्रहेण गत्वोर्ध्वमप्रतिघः ॥२८७॥

सिद्धिक्षेत्रे विमले जन्मजरामरणरोगनिर्मुक्तः ।
लोकाग्रगतः सिध्यति साकारेणोपयोगेन ॥२८८॥

समस्त संसारी जीवों को प्राप्त होने वाले समस्त गतियों में परिभ्रमण करने रूप संसार के मूल कारण औदारिक, तैजस और कर्माण शरीरों को सर्वथा त्याग कर, तीनों शरीरों से निमुक्त हुआ जाव, अस्पर्शमान गतिवाली समश्रेणी प्राप्त करके एक समय में अवक्र (सरल सीधी) गति से अप्रतिहत (बेरोकटोक) होकर ऊध्वगति प्राप्त कर निमल सिद्धक्षेत्र में जन्म-जरा-मरण और रोग से सर्वथा रहित हो, साकार (ज्ञान) उपयोग के साथ लोक के अग्रभाग में पहुंच कर सिद्ध हो जाता है।

देवों और नरक-जीवों के वैकिय शरीर होता है, मनुष्य और तिर्यञ्च जीवों के औदारिक शरीर होता है, तैजस और कार्माण शरीर सभी संसारी जीवों के होते हैं। इन सभी शरीरों से बिलकुल मुक्त हुआ जीव ऊध्वगमन करता है। वह ऊर्ध्वगमन समश्रेणि से होता है, बिना किसी रुकावट के एक समय में लोक के अग्रभाग को प्राप्त कर लेता है। अतः इस गति को स्पर्शरहित कहा है। लोक के अग्रभाग को सिद्धक्षेत्र कहते है। सर्व कर्मों का नाश करने वाले जीव को सिद्धजीव कहते हैं। वे जिस जगह रहते हैं, उसे सिद्धक्षेत्र कहते हैं। लोग के अग्रभाग में ४५ लाख योजन लम्बाई-चौड़ाई

वाली सिद्धशिला नाम की पृथ्वी है, यह पृथ्वी ऊर्ध्वमुखी छत्र (छत्ते) के आकार की हैं। उसके मध्य में आठ योजन है और दोनों ओर घटते-घटते अन्त में अंगुल के असंख्यातवें भाग रह जाता है। इस पृथ्वी के तल से लेकर लोकान्त तक जो एक योजनप्रमाण क्षेत्र है उस क्षेत्र में भी जो सबसे ऊपर का एक कोस का क्षेत्र है, उस एक कोस के क्षेत्र में भी उसका जो ऊपर का छठा भाग है, जिसका प्रमाण ३३३ धनुष्य ३२ अंगुल है। उतने प्रमाण के आकाश को ही सिद्धक्षेत्र कहते हैं। जन्म-जरामरण और रोग से मुक्त हुए सिद्धजीव मलरहित इस सिद्धक्षेत्र में ही जाकर ठहरते हैं, और साकारोपयोगी को ही ये समस्त लब्धियां मिलती हैं।

**सादिकमनन्तमनुपममव्याबाधसुखमुत्तमं प्राप्तः।**
**केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनात्मा भवति मुक्तः ॥२८९॥**

ऐसा मुक्त-आत्मा सादी अनन्त होता है तथा उसे अनुपम और अठ्याबाध उत्तम सुख प्राप्त होता है, तथा वह केवलदर्शन-केवलज्ञानमय होता है।

संसारी जीवों का सुख पराधीन है और क्षणिक है। देवता का तैतीस सागरोपमकाल का सुख भी क्षणिक है। सिद्ध जीवों का सुख सादी (उसकी आदि तो) है पर अनन्त (अन्त नहीं) है। वह स्वाधीन और शाश्वत है। तीनों कालों के देवों का सुख इकट्ठा किया जाये और उसका अनन्तगुना कर दिया जाये तो भी वह सिद्धपद के सुख के अनन्तवें हिस्से के बराबर भी नहीं हो सकता। सिद्ध का सुख ऐसा अनुपम सुख है कि उसके मुकाबलेमें जगत में और कोई सुख नहीं है। देवता हो या मनुष्य हो. कितना भी विशेष सुख मिला हो, परन्तु उसमें आकुलता और व्याकुलता रही होती है। परन्तु सिद्ध का सुख तो परिपूर्ण, निराकुल और निराबाध (बाधा-

रहित) होता है। इस तरह सिद्धजीव का उत्तम सुख स्वाभाविक सुख है और वह सम्यक्त्व-केवलज्ञान-केवलदर्शनमय है।

**मुक्तः सन्नाभावः स्वालक्षण्यात् स्वतोऽर्थसिद्धेश्च।**
**भावान्तरसंक्रान्तेः सर्वज्ञाज्ञोपदेशाच्च ॥२६०॥**

मुक्त हो जाने पर (संसार से सदा के लिये चले जाने से) जीव का सर्वथा अभाव नहीं होता, क्योंकि स्वलक्षणों से (यानी आत्मा के नित्यत्व और सतत ज्ञानोपयोगत्व लक्षण से) स्वतः अर्थक्रिया-कारित्व (मोक्ष में ज्ञानोपयोगरूप अर्थक्रिया उनके खुद के द्वारा होती रहने से) तथा एक भाव से (संसारीभाव से) दूसरे भाव (सिद्धभाव) में संक्रमण होने के कारण एवं सर्वज्ञ आप्तपुरुषों के 'मुक्त आत्मा है' इस प्रकार के वचन से मुक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है।

जैसे किसी आदमी के एक गांव से दूसरे गांव चले जाने से उसका सर्वथा अभाव नहीं होता, वैसे ही जीव के संसारदशा को छोड़ कर मुक्तदशा में चले जाने पर भी उसका अभाव नहीं हो जाता। वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगम में भी मुक्तात्मा को ज्ञानदर्शनस्वभाव कहा है। अतः मुक्तदशा में सिद्धजीव सर्वथा अभावरूप नहीं है। अगर मुक्तजीव को अभावरूप माना जाएगा तो वह जड़ कहलायेगा, चेतन नहीं।

**त्यक्त्वा शरीरबन्धनमिहैव कर्माष्टकक्षयं कृत्वा।**
**न स तिष्ठत्यनिबन्धादनाश्रयादप्रयोगाच्च ॥२६१॥**

शरीरबन्धन का त्याग करके, आठों कर्मों का क्षय करने के बाद सिद्धात्मा अनुबन्धरहित, आश्रयरहित और प्रयोग (प्रेरितगति से) रहित हो जाने के कारण यहां बिल्कुल नहीं ठहरते।

**नाधो गौरवविगमादशक्यभावाच्च गच्छति विमुक्तः ।**
**लोकान्तादपि न परं प्लवक इवोपग्रहाभावात् ॥२९२॥**

कर्म से विमुक्त सिद्धात्मा, गुरुता (भारीपन) का अभाव होने से और किसी भी प्रकार का संगपन न होने के कारण अधोगति को नहीं जाते (यानी मुक्त हो जाने के बाद तुम्बे की तरह नीचे गमन नहीं करते)। जैसे जहाज स्थल में गति नहीं करता, वैसे ही सिद्ध भगवान् अलोक में धर्मास्तिकाय की सहायता न होने से लोकान्त से ऊपर नहीं जाते हैं।

**योगप्रयोगयोश्चाभावात्तिर्यग्न तस्य गतिरस्ति ।**
**सिद्धस्योर्ध्वं मुक्तस्यालोकान्ताद् गतिर्भवति ॥२९३॥**

मुक्तात्मा मन, वचन, काया के योग और उनके प्रयोग (क्रिया) के अभाव में तिरछी गति नहीं करता, परन्तु सर्वकर्मों से मुक्त उस सिद्ध आत्मा की लोक के अन्त तक ऊर्ध्वगति होती है।

**पूर्वप्रयोगसिद्धेर्बन्धच्छेदादसंगभावाच्च ।**
**गतिपरिणामाच्च तथा सिद्धस्योर्ध्वगतिः सिद्धा॥२९४॥**

पूर्वप्रयोग की सिद्धि से, कर्मबन्धन के छेदन से, असंगभाव से और गति-परिणाम से सिद्ध भगवान् की ऊर्ध्वगति ही सिद्ध है।

**देहमनोवृत्तिभ्यां भवतः शरीरमानसे दुःखे ।**
**तदभावात्तदभावे सिद्धं सिद्धस्य सिद्धिसुखम् ॥२९५॥**

शरीर और मनोवृत्ति से शरीर और मन-सम्बन्धी दुःख होते हैं। देह और मन के अभाव में दुःख का अभाव हो जाता है। अतः सिद्ध परमात्मा का सिद्धिसुख निश्चित सिद्ध है।शारीरिक और मानसिक दुःख

का कारण शरीर और मन है। किन्तु सिद्धजीव के शरीर और मन नहीं होते। अतः दुख का कारण नहीं होने से स्वभावतः सिद्ध भगवान् को अनन्तसुख नियत (सिद्ध) होता है।

**यस्तु यतिर्घटमानः सम्यक्त्वज्ञानशीलसम्पन्नः।**
**वीर्यमनिगूहमानः शक्त्यनुरूपप्रयत्नेन ॥२९६॥**

**संहननायुर्बल-काल-वीर्य-सम्पत्समाधिवैकल्यात्।**
**कर्मातिगौरवाद्वा स्वार्थमकृत्वोपरममेति ॥२९७॥**

**सौधर्मादिष्वन्यतमकेषु सर्वार्थसिद्धिचरमेषु।**
**स भवति देवो वैमानिको महर्द्धिद्युतिवपुष्कः॥ २९८॥**

जो मुनि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और शील से संपन्न है और अपनेबल वीर्य (शक्ति) को नहीं छिपाता हुआ यथाशक्ति संयमक्रिया में उद्यम करता है, वह अपने संहनन, आयुष्य, बल, काल, शक्ति, सम्पदा और समाधि की निर्बलता (पूर्णता न होने) के कारण अथवा कर्म के अतिशय (प्रभाव) से अपनालक्ष्य सिद्ध (मोक्ष प्राप्त) किये बिना ही कालधर्म (मृत्यु) को प्राप्त करता है। फिर वह मुनि सौधर्म आदि देवलोकों से लेकर अन्तिम सर्वार्थसिद्धि विमान तक में से किसी एक देवलोक में महाऋद्धि और अत्यन्त कान्तिमय शरीरवाला वैमानिक देव होता है।

**तत्र सुरलोकसौख्यं चिरमनुभूय स्थितिक्षयात्तस्मात्।**
**पुनरपि मनुष्यलोके गुणवत्सु मनुष्यसंघेषु ॥२९९॥**

**जन्म समवाप्य कुलबन्धुविभवरूपबलबुद्धिसम्पन्नः।**
**श्रद्धा-सम्यक्त्वज्ञानसंवर-तपोबलसमग्रः ।३००॥**

वह उत्तम जीव वहां चिरकाल तक देवलोकसम्बन्धी सुखों का अनुभव करके आयुष्य पूर्ण कर वहां से फिर मनुष्यलोक में गुणवान मनुष्यपरिवार में जन्म लेता है। यहां (मनुष्यलोक में) भी वह उत्तम कुल, बन्धु, विभव, रूप, बल और बुद्धि से सम्पन्न होता है तथा श्रद्धा, सम्यक्त्व, ज्ञान, संवर और तपोबल से पूर्ण होता है।

**पूर्वोक्तभावनाभिर्भावितान्तरात्मा विधूतसंसारः।**
**सेत्स्यति ततः परं वा स्वर्गान्तरितस्त्रिभवभावात् ॥३०१॥**

वह पहले बताई गई भावनाओं से अपनी अन्तरात्मा को भावित करता है और जन्म-मरणरूप संसार का सर्वथा नाश कर उसी भव में अथवा उसके बाद स्वर्ग आदि में जन्म लेकर तीसरे भव में सिद्धपद को प्राप्त करता है।

**यश्चेह जिनवरमते गृहाश्रमी निश्चितः सुविदितार्थः।**
**दर्शनशीलव्रतभावनाभिरभिरञ्जितमनस्कः ॥३०२॥**

**स्थूलवधानृतचौर्यपरस्त्रीरत्यरतिवर्जितः सततम्।**
**दिग्व्रतमिह देशावकाशिकमनर्थविरतिं च ॥३०३॥**

**सामायिकं च कृत्वा पौषधमुपभोगपारिमाण्यं च।**
**न्यायागतं च कल्प्यं विधिना पात्रेषु विनियोज्यम्॥३०४॥**

**चैत्यायतनप्रस्थापनानि कृत्वा च शक्तितः प्रयतः।**
**पूजाश्च गन्धमाल्याधिवासधूपप्रदीपाद्याः ॥३०५॥**

**प्रशमरतिनित्यतृषिता जिनगुरुसत्साधुवन्दनाभिरतः।**
**संलेखनां च काले योगेनाराध्य सुविशुद्धाम् ॥३०६॥**

प्राप्तः कल्पेष्विन्द्रत्वं वा सामानिकत्वमन्यद्वा ।
स्थानमुदारं तत्रानुभूय च सुखं तदनुरूपम् ।।३०७।।

नरलोकमेत्य सर्वगुणसम्पदं दुर्लभां पुनर्लब्ध्वा ।
शुद्धः स सिद्धिमेष्यति भवाष्टकाभ्यन्तरे नियमात्।।३०८।।

श्री जिनेश्वर भगवान् के शासन में जो गृहस्थ निश्चल होकर भलीभांति जीवाजीवादि नौ तत्वों का ज्ञान कर लेता है; तत्पश्चात् जिसका मन सम्यग्दर्शन, ज्ञान, अणुव्रत, शीलव्रत एव भावनाओं में रम जाता है। जिसने स्थूलरूप से हिंसा, स्थूल असत्य, स्थूल अदत्त, स्थूल अबह्म(स्वदारसंतोष, परदारविरमणरूप)तथा स्थूल अरति (परिग्रह) का सतत त्याग किया है और उसके बाद दिग्व्रत, देशावकाशिकव्रत, अनर्थदण्डविरमण व्रत , सामायिक, पौषध और भोगोपभोगपरिमाण नामक शील (उपव्रत) स्वीकार किया है , तथा जो अपनी न्यायोपार्जित और निर्दोष वस्तु को विधिवत् सुपात्र में विनियोग (दान) करता है और शक्ति के अनुसार सावधान हो कर जिनचैत्यालयों की प्रस्थापना कराता है तथा उसकी सुगन्ध, विलेपन, पुष्पमाला, अधिवास, धूप और प्रदीप आदि द्रव्य से पूजा करता है ; जो प्रशमरति (वैराग्य मार्ग में रमण करने का नित्य अभिलाषी होता है; श्री जिनेश्वर भगवान् देव और सुसाधु गुरु को वन्दना करने में अत्यन्त रसिक है और अन्त समय में सुविशुद्ध संलेखना को (तीन योग। मन, वचन, काया से आराधना करता है; वह पुण्यात्मा गृहस्थ भी सौधर्मादि देवलोक में इन्द्रपद अथवा सामानिक देवपद अथवा अन्य किसी उच्चपद को प्राप्त करता है। वहां वह तदनुरूप महान सुख को भी भोगता है।

और वहां का आयुष्य पूर्ण करके पुनः मनुष्यलोक में आकर दुर्लभ सर्वगुणसंपदा को प्राप्त करके क्रमशः आठवें भव में शुद्ध निमल होकर निश्चय ही सिद्धपद प्राप्त करता है।

अब श्री ग्रन्थकार गृहस्थसम्बंधी धर्म का स्वरूप समझाते हैं। साधुओं के व्रत परिपूर्ण होते हैं इसलिये वे सर्वविरति कहलाते हैं, परन्तु गृहस्थ उन व्रतों का पूर्णतया पालन नहीं कर सकते। अतः गृहस्थ की उस व्रतपद्धति का नाम देशविरति है अथवा स्थूल-विरति है। उसमें प्रथम स्थूल हिंसात्याग अणुव्रत है। गृहस्थ (श्रावक) बादर निरपराध स्थूल द्वीन्द्रियादि जीवों की हिंसा द्वेषबुद्धि से नहीं करता। परन्तु वह पृथ्वीकाय आदि सूक्ष्मजीवों की हिंसा का त्याग नहीं कर सकता। क्योंकि जीवन-व्यवहार चलाने के लिये आरम्भ (हिंसा) के बिना उसका काम नहीं चलता, इसलिये वह आरम्भजा हिंसा छोड़ कर संकल्पी हिंसा का त्याग करता है। दूसरा अणुव्रत स्थूलअसत्य के त्याग का है। जैसा जो पदार्थ हो उसे वैसा ही न बता कर अन्यथा बतलाना झूठ है। तीव्र संकल्प से ऐसे झूठ का त्याग करता है। हास्य आदि वश सूक्ष्म झूठ की छूट रहती है। तीसरा अणुव्रत स्थूल अदत्तादान (चोरी) के त्याग का है। जिसके ग्रहण करने पर चोर कहलाए, राजा दण्ड दे, लोगों में निन्दित हो, वह स्थूलचोरी है, उसका त्याग करता है अपनी विवाहिता स्त्री में संतोष और उसके सिवाय समस्त परस्त्री का त्याग करना श्रावक का चौथा स्थूलब्रह्मचर्यव्रत(स्वदारसंतोष-परदार-विरमण व्रत) है। जो अधिक परिग्रह के लिये आरंभ करता है वह जीव निश्चय ही दुःखी होता है। अतः मकान, खेत, सोना-चांदी, रुपया आदि परिग्रह की मर्यादा करनी चाहिये। श्रावक अपने समस्त परिग्रह की मर्यादा करता है, सीमा बांधता है, अतः उसका पांचवां अणुव्रत परिग्रहपरिमाणव्रत कहलाता है। पांच

अणुव्रतों के बाद तीन गुणव्रत होते हैं। ये अणुव्रतों में गुण (विशेषता) पैदा करने वाले होते हैं। छहों दिशाओं में आने-जाने की मर्यादा करना और उसका उल्लंघन नहीं करना छठा दिग्व्रत है। छठे दिग्व्रत में जो परमाण रखा गया है, उसमें भी दिन में और रात में संक्षेप करना देशावकाशिक व्रत है।

कई जगह इनका नम्बर दशवें व्रत में आता है, परन्तु ग्रन्थकार इसे सातवां स्थान देते हैं। अतः सातवां देशावकाशिकव्रत है। आठवां अनर्थदण्डविरमण व्रत है। जिससे जीव अनर्थ यानी बिना ही प्रयोजन पुण्यरूपी धन के उपहार से दंडित हो और पापकर्म से लिप्त हो उसे अनर्थदण्डविरमण व्रत कहते हैं। इसके मुख्य चार प्रकार हैं-(१) आर्त्त रौद्ररूपी दुर्ध्यान, (२) पापकर्म का उपदेश देना, (३) जिससे हिंसा हो ऐसे साधन-उपकरण दूसरों को देना और (४) प्रमाद का सेवन करना। इन चारों अनर्थ-दण्डों के त्याग करने का व्रत लेना अनर्थदण्डविरमणव्रत कहलाता है।

तीन गुणव्रतों के बाद चार शिक्षाव्रत आते हैं। महापुरुषों द्वारा बताए गए धर्मानुष्ठान का बार-बार अभ्यास करना, उसको तालीम लेना शिक्षा है। इस प्रकार की शिक्षा का व्रत लेना शिक्षाव्रत कहलाता है। शिक्षाव्रतों में सर्व प्रथम नौवां सामायिकव्रत आता है। आर्त्त रौद्रध्यान का और सावद्य (सपाप) कार्यों का त्याग करके एक मुहूर्त्त (दो घड़ी) पर्यंत समभाव में स्थिर रहना सामायिकव्रत है। दशवाँ पौषधव्रत अर्थात् दूसरा शिक्षाव्रत है। जिससे धर्म (चारित्र) की पुष्टि हो, उसे पौषधव्रत कहते हैं। इसमें उपवासादि तप करना; पापकारी सदोष व्यापारों (प्रवृत्तियों) का त्याग करना, ब्रह्मचर्यपालन करना और स्नानादि द्वारा शरीर के शृंगार करने का त्याग करना पड़ता है। ग्यारहवां भोगोपभोगपरिमाण व्रत यानी तीसरा शिक्षाव्रत है। जो वस्तु एक बार ही भोगी जा सके,

जैसे अनाज, पुष्पमाला, तांबूल, विलेपन आदि, वे भोग्य कहलाती हैं और जो वस्तु बारबार पुनः पुनः उपभोग की जा सके, जैसे स्त्री, वस्त्र, अलंकार, घर, शय्या, आसन, वाहन आदि, वे उपभोग्य कहलाती हैं। अतः भोग्य और उपभोग्य सभी वस्तुओं की मर्यादा (सीमित) करना, परिमाण करना, उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत कहलाता है। तथा इसमें मद्य, मांस, नवनीत, अनन्तकाय, कन्द-मूलादि, अज्ञात फल, रात्रिभोजन, कच्चा दही और छाछ के साथ द्विदल मूंग, चने, उडद, मोठ आदि) खाना, बासी अनाज खाना, दो दिन के उपरांत दही और चलितरस वाले पदार्थ या खराब अनाज का खाना वर्जित होता है।

बारहवां यानी चौथा शिक्षाव्रत अतिथिसंविभागव्रत है। जिसके आने की कोई तिथि, वार, पर्व आदि निश्चित न हो; ऐसे निरन्तर वैराग्यदशा में रमण करने वाले त्यागी, महाव्रती को उत्कृष्ट अतिथि कहते हैं। उसे कल्पनीय एवं अचित्त निर्दोष आहार, पानी आदि का दान देना, अतिथिसंविभागव्रत कहलाता है। उसका वास्तविक अर्थ यह है कि पौषध करके पारणे के दिन न्यायपूर्वक अनिन्दनीय व्यापार से उपार्जित धन से खरीदे हुए, व अपने लिये बनाए हुए निर्दोष आहारपानी आदि में से मुनिराज को ससत्कार एवं विधि-पूर्वक भिक्षापात्र में दान देना। आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने इस श्लोक की टीका में लिखा है कि यहां पात्र-ग्रहण का स्पष्ट अर्थ यह है कि अपने घर पधारे हुए मुनिराज को ही दान देना, अपने बर्तनों में डाल कर साधुओं को वसति (स्थान) में जा कर देना नहीं चाहिये।

इस तरह गृहस्थ श्रावक बारह व्रतों का सम्यग्रूप से पालन करता हुआ अपनी शक्ति के अनुसार उत्साहपूर्वक परिवार, स्वजन आदि को लेकर बाजेगाजे के साथ बड़े धूमधाम से चैत्यालयों (मंदिरों)

की प्रतिष्ठा करता है और सुगन्ध, विलेपन, पुष्पमाला, अधिवास, धूप और दीपक आदि से वहां प्रतिदिन अष्टप्रकारी पूजा करता है, सदैव प्रशमरति (वैराग्य में रमण करने) का अभिलाषी होता है तथा तीर्थङ्कर भगवान्, आचार्य, उपाध्याय आदि मुनिराजों को नित्य उत्साह व श्रद्धा के साथ वन्दना करता है और जब देखता है कि मेरा मृत्युकाल अब निकट है, तब स्वीकृत व्रतों में लगे हुए अतिचारों (दोषों की आलोचना करके प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होता है और १८ पापों एवं चारों आहारों का त्याग करके अन्तिम संल्लेखना-संथारा (अनशन कर लेता है। इस प्रकार वह श्रावक अन्तिम संल्लेखना-व्रत की आराधना सम्यक् प्रकार से करता है।

अन्तिम आराधना समाधिमरणपूर्वक होने से वह देवलोक में इन्द्रपद या इन्द्र के समान सामानिक पद अथवा प्रभावशाली वैमानिक देव का पद प्राप्त करता है। वहां वह अनेक प्रकार के उत्कृष्ट सुखों को भोगता है। वहां से आयु पूर्ण (च्यव) कर वह पुनः मनुष्यलोक में जन्म लेता है। यहां पर दुर्लभ सर्वगुणसम्पन्न जाति, कुल, वैभव, रूप, सौभाग्यसंपदा, सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र आदि प्रशस्तगुणों को प्राप्त करता है। यहां से वह गृहस्थ (श्रावक) कमशः आठ भवों में शुद्ध निर्मल होकर निश्चितरूप से सिद्धपद प्राप्त कर लेता है। अतः प्रारम्भ में अगर साधुधर्म के पालन की शक्ति न हो तो श्रावकधर्म का पालन करके भी अन्त में साधुधर्म का पालन करे अथवा श्रावक धर्म में भी साधु जैसी उत्कृष्ट आराधना करके वह जीव मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

**इत्येवं प्रशमरतेः फलमिह स्वर्गापवर्गयोश्च शुभम्।**
**सम्प्राप्यतेऽनगारैरगारिभिश्चोत्तरगुणाढ्यैः ॥३०६॥**

इस तरह प्रशमरति (वैराग्यभावों में रमण) के द्वारा, मूलगुण-उत्तरगुणसंपन्न अनगार निर्ग्रंथमुनि और सागारी गृहस्थ स्वर्ग और

अपवर्ग (मोक्ष) सम्बन्धी शुभफल प्राप्त करते हैं।

**जिनशासनार्णवादाकृष्टां धर्मकथिकामिमां श्रुत्वा।**
**रत्नाकरादिव जरत्कपर्दिकामुद्धृतां भक्त्या ॥३१०॥**
**सद्गुणदोषज्ञैर्दोषानुत्सृज्य गुणलवा ग्राह्या ।**
**सर्वात्मना च सततं प्रशमसुखार्थैव यतितव्यम् ॥३११॥**

समुद्र में से निकाली हुई पुरानी कौड़ी की तरह भक्तिपूर्वक जिन-शासनरूपी महासागर में से उद्धृत इस धर्मकथा (धर्मवचनरूपग्रन्थ) को सुन कर गुण और दोष के जानकार सज्जन दोषों को छोड़ कर गुण के अंशों कणों को ही ग्रहण करें और निरन्तर पूर्णतया प्रशम-सुख के लिये पुरुषार्थ करें।

**यच्चासमंजसमिह छन्दःशब्दसममयार्थतो मयाऽभिहितम्।**
**पुत्रापराधवत्तन्मर्षयितव्यं बुधैः सर्वम् ॥३१२॥**

इस प्रशमरतिग्रन्थ में छन्दशास्त्र; शब्दशास्त्र और सिद्धान्त से कुछ भी विरुद्ध या असंगत मुझ से कहा गया हो तो विद्वान् पुरुष पुत्र के द्वारा हुए अपराध के समान (मान कर वह सब क्षमा करें।

**सर्वसुखमूलबीजं सर्वार्थविनिश्चयप्रकाशकरम् ।**
**सर्वगुणसिद्धिसाधनधनमर्हच्छासनं जयति ॥३१३॥**

समस्त सुखों का मूल कारण, समस्त पदार्थों के स्वरूप को निश्चित रूप से प्रगट करने वाला और सर्व गुणों की सिद्धि के लिए साधनधनस्वरूप श्रीअर्हन्त (वीतराग) देव का शासन सदा विजयी हो।

इति शुभम्

**श्री प्रशमरतिप्रकरण—भाषानुवाद सम्पूर्ण**

## मुनि पद्मविजयजी की अन्य कृतियां

★ १-ललित भक्तिदर्पण

★ २-ऐतिहासिक तीर्थ — हस्तिनापुर

★ ३-ज्ञानसार अष्टक (अनुवाद)